योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 30 दिसम्बर, 1997 अंक 9

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) - 283 202

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० वात्सलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा

वार्षिक शुल्क	65/- रु०
एक प्रति	6/- रु०
द्विवार्षिक शुल्क	120/- रु०
आजीवन शुल्क	651/- रु०

इस अंक के लेख

☐ पुनर्नमोऽस्तु 1

☐ अमृत कण 2

☐ योग और परकाय प्रवेश (विशेष लेख) 3
-योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

☐ योग साधना एवं सिद्धियाँ (सम्पादकीय) 7

☐ आध्यात्मिक जगत एवं श्री गुरुदेव 10
-पूर्णचन्द्र पन्त

☐ जब गुरुजी ने नवजीवन दिया दिव्य जी को 13
-राधेश्याम तिवारी

☐ अपना उद्धार और अपना विकास अपने हाथ में है ! -ब्र० ओमप्रकाश 16

☐ आश्रमवासी ब्रह्मचारियों पर श्री गुरुदेव का वात्सल्य 20
-आचार्य पूर्णचन्द्र शर्मा

☐ योगसाधक का संविधान (कविता) 24
-ब्र० बृजमोहन वाशिष्ठ

☐ दान -ब्र० मोहनस्वरूप उपाध्याय 25

☐ योगी की परम्परा 27
-जनक कुलश्रेष्ठ

☐ योगिक प्रश्नोत्तरी 30

☐ मन और माया -डा० विजय सिंह 32

☐ भलाई का रास्ता -विष्णुप्रसाद व्यास 35

☐ विवेकानन्द ने कहा था 38

'SIDDHAYOG' DECEMBER 1997

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 30 अंक 9	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	दिसम्बर 1997

पुनर्नमोऽस्तु

स्वाराज्य साम्राज्यविभूतिरेषा
भवत्कृपा श्रीमहिम प्रसादात्
प्राप्ता मया श्री गुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु

अर्थात्

हे गुरुदेव ! आपकी कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझे यह स्वाराज्य साम्राज्य की विभूति प्राप्त हुई है। आप महात्मा को मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो, बारम्बार नमस्कार हो।

अमृत कण

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

अर्थात्

जिस रात्रि में सभी प्राणी सोते रहते है ज्ञानी उसमें जागृत रहता है अर्थात् सांसारिक विषय में आसक्त प्राणी के लिये योग समाधि अलभ्य होने के कारण रात्रि रूप है। वह ज्ञानी को सहज प्राप्त रहता है तथा जिस जागतिक व्यवहार में मूढ़ जन अपने मन को लगाते है वे ज्ञानी के लिये उपेक्ष्य होता है।

* * * *

आपूर्य माणम चल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

अर्थात्

जिस प्रकार से सारी नदियाँ अपना नामरूप खोकर समुद्र में समा जाती है उसी प्रकार से जिस योगी की सभी कामनायें आत्म प्रकाश में विलीन हो जाती है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है किन्तु कामनाओं का आकाँक्षी अशान्त ही बना रहता है।

* * * *

विशेष लेख

योग और परकाय प्रवेश

योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

परकाय प्रवेश के विषय में बहुत सी किंवदन्तियाँ है। परकाय प्रवेश क्या वस्तु है ? किन साधनों से यह क्रिया किस प्रकार प्राप्त की जाती है, इस बात को हर व्यक्ति नहीं जानता। किन्तु प्राचीन इतिहास और अब भी अनुभवी सन्तों के चरित्र यह भली प्रकार सिद्ध करते है कि समाधि सिद्ध योगियों ने स्थान-स्थान पर परकाय प्रवेश किये और उन-उन शरीरों में जाकर विभिन्न प्रकार की क्रियायें एवं रहस्यों को समझा। कौन नहीं जानता जगद्गुरु आदि शंकराचार्य का शास्त्रार्थ श्रीनगर में मण्डन मिश्र के साथ हुआ। श्री शंकराचार्य जी ने मण्डन मिश्र को परास्त कर दिया। मध्यस्था मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी विद्याधरी थी। शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले शास्त्रार्थ की नियमावली बना ली गयी थी। उसमें निश्चय हुआ था कि शास्त्रार्थ में जो भी हार जायेगा वह अपने प्रतिवादी का शिष्य हो जायेगा। और उसी के आश्रम को स्वीकार कर लेगा। परिणाम हुआ भी इसी प्रकार का। शास्त्रार्थ में श्री शंकराचार्य जी ने मण्डन मिश्र जी को परास्त कर दिया। मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी विद्याधरी ने निर्णय दे दिया कि पराजय मण्डन मिश्र की हुई है। श्री शंकराचार्य जी जीत गये है। इसके परिणामस्वरूप मण्डन मिश्र का सन्यास ग्रहण करना भी निश्चित हो गया। किन्तु परम सौभाग्य शालिनी देवी विद्याधरी ने देखा कि उसका पति शास्त्रार्थ में पराजित होकर संन्यास लेने वाला है एवं उसका यह गृहस्थ सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त होने जा रहा है। देवी को एक युक्ति सूझी और उसने श्री शंकराचार्य जी से कहा–महात्मन् ! अभी आप मण्डन मिश्र को परास्त नहीं कर पाए है। आधा मण्डन मिश्र मैं आपके सामने मौजूद हूँ। यदि शास्त्रार्थ में आप मुझे भी जीत लेंगे तभी मण्डन मिश्र की पराजय समझी जायेगी। श्री शंकराचार्य जी ने धर्म परायणा देवी की इस युक्ति को यथार्थ माना और देवी विद्याधरी के साथ शास्त्रार्थ करने को तैयार हो गये। देवी विद्याधरी ने कामशास्त्र से सम्बन्धित वाद प्रस्तुत किया। उसकी विद्वता और पांडित्य पूर्ण तर्कों को जानकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री शंकराचार्य जी को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और वे अपने आपको पराजित-सा समझने

लगे। आ नी होती हुई घोर पराजय को देखकर ब्रह्मचारी शंकर ने विद्याधरी से छः महीने का अवकाश माँगा, विद्याधरी ने वह अवकाश श्री शंकराचार्य को दे दिया और शंकराचार जी ने विद्याधरी के गूढ़ प्रश्नों का समाध न प्राप्त करने के लिए एक राजा के मृत श रीर मे प्रवेश किया और उस शरीर के द्वारा काम-कला के सभी रहस्यों को सीख लि ा। उन दिनों शंकराचार्य जी का वह व्यव त शरीर उनके शिष्यों ने श्री अमरनाथ जी की एक गुफा में तेल के कड़ाहे में डालक सम्हाल कर रखा। श्री शंकराचार्य जी ने अ ने शिष्यों को यह संकेत दे दिया था कि मैं इतने महीने के बाद पुनः इसी शरीर में प्रवेश करूँगा। तब इसे तेल के कड़ाहे से निकाल कर बाहर रख देना जिससे मैं इसमें 'ली प्रकार प्रवेश कर सकूँ। वैसा ही हुआ भी। और विद्याधरी से मिलकर उसके कू: (रहस्यमय) प्रश्नों का जवाब दिया। बा: में मण्डन मिश्र और उसकी धर्मपत्नी 'द्याधरी को परास्त करके विजय प्राप्त की। यह सब परिणाम श्री शंकराचार्य जी के पर काय प्रवेश के द्वारा हुआ। परकाय प्रवेश के अन्य भी इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण है जो अनुभवी सन्तों ने करके दिखलाए।

भार वर्ष में समय-समय पर इस प्रकार के सन्तों का प्रादुर्भाव होता रहता है जो अपने दिव जीवन से योग सिद्धान्तों को प्रकट करते रह है। आज से लगभग ४० वर्ष पहले की बात है पंजाब के समाचार पत्रों में एक घटना श्रीनगर (काश्मीर) की बहुत ही विशद् रूप से प्रकाशित हुई थी। श्रीनगर की किसी वनस्थली मे एक वृद्ध महात्मा निवास करते थे। उनके शिष्य एक वकील थे। वकील से महात्मा ने कहा कि भाई शरीर जर्जरीभूत हो चुका है। इसमें खान-पान और चलने-फिरने की योग्यता नहीं रह गयी है। इस शरीर का परिवर्तन बहुत आवश्यक है। जन्म लेंगे तो जन्म-मरण के महादुःख को भोगना पड़ेगा। इसलिए अच्छा यही है कि हम किसी युवा के शरीर में प्रवेश कर जाएं और उस शरीर को लेकर के हम अपनी साधनाओं में लगे रहें। किन्तु किसी हिन्दू का शरीर तो हमें मिलेगा नहीं क्योंकि वे लोग देहान्त के बाद शरीर को जला देते है। मुसलमान का शरीर मिलेगा क्योंकि इन लोगों के शरीर दफनाए जाते है। दो एक दिन में ही किसी मुसलमान युवा लड़के की मृत्यु हो गयी। वकील ने महात्मा जी को सूचना दी। लड़का पवित्र विचार का था, शुद्ध आहार-विहार का था। महात्मा जी ने उसी के शरीर को अपना बनाने का निश्चय कर लिया और अपने शिष्य वकील को पूरी-पूरी बात समझा दी। आज ही रात उस लड़के के शरीर को तुम निकलवा लेना मैं और उस लड़के का शरीर पास-पास लेट जावेंगे। थोड़ी देर में दोनों शरीरों में स्पन्दन शुरू हो जायेगा। कुछ देर बाद शरीरों का स्पन्दन बन्द हो जावेगा। तुम अमुक आहार

उसको खाने को दे देना और मेरे शरीर को लड़के के शरीर के स्थान में दबा देना। तुम घबराना नहीं लड़के के शरीर में स्वयं मैं ही होऊँगा। तुम चुपचाप अपने घर में लिवा लाना एवं छः या सात रोज तक मेरे उस लड़के वाले शरीर की अमुक-अमुक औषधियों से मालिश करना एवं अमुक वस्तु खाने को देना। उसके एक सप्ताह बाद मैं कहीं भी चला जाऊँगा। वकील ने उसी प्रकार से सेवा की। लगभग एक सप्ताह या दस रोज बाद महात्मा जी उस लड़के वाले शरीर को लेकर कहीं चले गए। अकस्मात् महात्मा जी अमृतसर जा निकले। अमृतसर में मुस्लिम लड़के के रिश्तेदार उसके मामा आदि रहते थे। उन्होंने अपने उस लड़के के शरीर को पहचान लिया। बात-चीत की। यथार्थ में तो वह लड़का था ही नहीं। लड़के के शरीर में महात्मा जी थे। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करते रहे किन्तु लड़के के शरीर को मामा, नाना आश्चर्य मानने लगे कि उनका लड़का उनको पहचान ही नहीं रहा है। कारण का यथार्थ पता लगाने के लिए श्रीनगर टैलीग्राम वगैरह देकर के लड़के के कब्र में महात्मा का जीर्ण-शीर्ण शरीर मिला। सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या हुआ ? शनैः शनैः चर्चा फैलने पर लोगों ने पता लगा दिया कि अमुक स्थान पर रहने वाले महात्मा जी ने अपना शरीर छोड़ दिया है, और हमारे लड़के के शरीर में प्रवेश करके वह कहीं चले गए हैं। मुसलमानों को तो यह जानकर हर्ष ही हुआ कि उनके बच्चे के शरीर को महात्मा जी ने स्वीकार कर लिया है। और उनका लड़का कहीं सजीव मौजूद है। किन्तु बहुत प्रयत्न के साथ पता लगाने पर भी वे लोग यह पता नहीं लगा सके कि उनके लड़के के शरीर को धारण करने वाले आजकल कहाँ विराजमान हैं।

इस प्रकार से परकाय प्रवेश की बहुत सी घटनायें समय-समय पर समाचार पत्रों में भी प्रकाशित होती रहती हैं। और समय-समय पर अनुभवी सन्तों ने इन क्रियाओं का अनुभव भी किया है। यथार्थ में परकाय प्रवेश किया है। किस प्रकार किया जाता है- पढ़िये इस भगवान पतंजलि देव के सैद्धान्तिक विचार-

बन्धकारण शैथिल्यात्प्रचार

संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

(विभूतिपाद प. यो. दर्शन)

अर्थात्-मनुष्य का वासना भोग रूप कर्म चित्त के बन्धन का कारण है। जब योगी अपने समाधि बल से बन्धन के कारण को शिथिल कर डालता है और नाड़ियों में समाधि के द्वारा चित्त के आने जाने के मार्ग को स्पष्ट कर लेता है। उस समय योगी अपने चित्त को अपने शरीर से निकाल करके दूसरे के शरीर में प्रवेश करा देता है। चित्त

के निकल कर दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर सभी इन्द्रियाँ चित्त के साथ-साथ दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाती है। जैसे मधुमक्खियों में प्रधान माक्षिकाराज रानीमक्खी के उड़ जाने पर अन्य मक्खियाँ उड़ जाया करती है और जहाँ वह रानीमक्खी बैठती है वहीं सब बैठ जाया करती है। इसी प्रकार से चित्त के अधीन सभी इन्द्रियाँ जिस शरीर में चित्त प्रवेश करता है उसमें वे भी प्रवेश कर जाती है। योगी का ये परशरीरावेष जीवित और अजीवित दोनो प्रकार के शरीरो में हुआ करता है। पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियाँ-

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयव गाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यथः तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधि वलाद् भवति प्रचार संवेदनं च चितस्य समाधिजमेव कर्मबन्धक्षयात स्वचित्तस्य प्रचार संवेदानाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति निक्षिप्तं चेतं चेन्द्रियारायनु पतन्ति यथा मधुकरराजं मक्षिका उसतन्त मनुत्पतन्ति निविशमानमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि। परशरीरावेशे चिन्तमनुविधी यन्त।

श्री व्यास देवजी ने अपने भाष्य में जो भाव प्रकट किये वह ऊपर की पंक्तियों में लिखे जा चुके है। इस लेख मे उदाहरणार्थ दो घटनाये-श्री शंकराचार्य जी की एवं कश्मीर वाले योगी की परकाय प्रवेश की सच्ची घटनाये है। किन्तु कही-कही पर योगी जब अपने मन में परकल्याण की भावना रखता है तो जीवित शरीरो मे भी अपने चित्त का आवेश कर लिया करता है। और ऐसा परशरीरावेश स्वीकार करके कहीं-कहीं योगीराज लोग दूसरों का भला किया करते है।

हमारे बहुत विस्तृत योग प्रचार कार्यक्रमो में बहुत स्थानों पर इस प्रकार के परशरीरावेश देखे गये जिनमे स्वयं श्री प्रभुजी ने अपने चित्त का परशरीरावेश करके लोगो का भला किया। वरदान तक दिये। ऐसे शुद्धावेश के अन्दर जो-जो काम किये गये वे सब काम तत्काल उसी समय हो भी गये। कई स्थानों पर कई लड़कियो मे श्रीकृष्ण का आवेश हुआ और वे आठ-आठ घण्टे उस भावावेश के अन्दर खड़ी रही किन्तु योगीराज लोग हर स्थान पर अपने चित्त का आवेश नही करते। कही-कहीं जहाँ अन्तःकरण परम शुद्ध होता है वहाँ पर ही किसी विशेष लक्ष्य को मद्देनजर रख कर वे अपने चित्त का परशरीरावेश किया करते हैं। इसमें भी कोई शंका की बात नही है कि योगी-योगिनियों ने परकाय प्रवेश किया। यह परकाय प्रवेश एक सिद्ध क्रिया है जिसके द्वारा योगीराज लोग अपने मनोवाञ्छित लोक-हित के कार्य किया करते है। ❊❊❊

सम्पादकीय

योग साधना एवं सिद्धियाँ

सिद्धियों के पाँच प्रकार भगवान पतञ्जलिजी ने माने है- वे है, जन्मजा, औषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा एवं समाधिजा। अर्थात् जितनी भी सिद्धियाँ हो सकती है वे इन पाँच श्रेणियों के अन्तर्गत ही आती है। इनमे जन्मजा सिद्धि वह है जो इस जन्म मे बिना साधना के ही मनुष्य मे स्वाभाविक रूप से निहित रहा करती है जिससे उस मनुष्य की इन्द्रियों और मन मे विशेष व अलौकिक ताकते रहा करती है। योग में भव प्रत्यय वाले योगी इसी प्रकार के होते है। जो योगी योग साधना करते-करते ही मानव देह छोड़ देता है अथवा ऊँची अवस्था मे पहुँचकर भोग से पथभ्रष्ट हो जाता है तो वह योगी दूसरा जन्म पाकर भव प्रत्यय वाला योगी होता है वह जन्म से ही अलौकिक शक्तियों वाला होता है तथा उसका मन समाहित रहा करता है यदि कदाचित् उसे मानवदेह न मिले तो योग ध्यान के पुण्य के फलस्वरूप वह उत्कृष्ट स्वर्गलोक में विदेह आदि देवता के रूप मे रहा करता है और फिर मानवदेह मे आने पर भव प्रत्यय वाला योगी बनता है उनमे भी जन्म से ही दिव्य शक्तियों का वास होता है।

जो अवतार श्रेणी के महापुरुष है अथवा भगवत्कला अंश से युक्त है उनमें भी जन्मजा अलौकिक शक्तियाँ होती है। जो महायोगी अपनी इच्छा से लोक कल्याणार्थ निर्माण काय से मानव देह धारण करते है उनमे भी योग शक्तियाँ स्वाभाविक होती है। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने २-३ वर्ष की अवस्था में ही कई लोकोत्तर कार्य कर दिखाये थे।

जन्मजा सिद्धियों के उदाहरण के रूप में कुछ विचारक पक्षियो का आकाश मे उड़ना अथवा मत्स्यादि का जल में ही रहना आदि प्रस्तुत किया करते है। वस्तुतः देखा जाये तो यह व्यक्तिगत सामर्थ्य के साथ-साथ जातिगत विशेषता है। जातिगत विशेषता को सिद्धि के रूप मे लिया जाये तो हर जाति के प्राणियों मे विलक्षणता है जो एक दूसरे से भिन्न होती है यदि पक्षी आकाश गमन करता है तो एक सामान्य मानव में भी बुद्धि आदि के होने से अनेक शक्तियाँ है जो पक्षी आदि मे नही होती इसलिये सिद्धि की जहाँ चर्चा हो रही हो वहाँ मानव के धरातल को सामने रखकर ही इसका विवेचन किया जाता है। इस प्रकार से 'सिद्धि' कहने का तात्पर्य यह होगा कि मानव देह समान होने पर भी किसी व्यक्ति विशेष के शरीर, इन्द्रियों तथा मन की शक्ति में मानवोत्तर सामर्थ्य का पाया जाना।

स्वर्गादि के देवताओं में जन्मजा विशेष शक्तियाँ होती हैं। जन्मजा सिद्धियों के होने पर यह समाधिजा सिद्धि के लिये उत्कृष्ट भूमिका तैयार कर देती है जो मनुष्य कुछ विशिष्ट शक्तियों से युक्त होकर जन्म लेगा तो वह स्वाभाविक ही योग निष्ठ होगा एवं 'लभते पौर्वदेहिकम्' के नियमानुसार पूर्वसाधन से आगे की साधना में लग जायेगा और अन्त में लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। दूसरे प्रकार की सिद्धि औषधि से प्राप्त की जाने वाली सिद्धि है। चान्द्रायणी, विधुल्लता आदि ऐसी दिव्य औषधियाँ हैं जिनके खा लेने पर मन सद्यः ही समाहित हो जाया करता है। संजीवनी आदि बूटियों के प्रयोग से लक्ष्मणादि की जीवन रक्षा की घटना सर्वविदित है। सोमलता के रस का सेवन करने से देवताओं को अमरत्व प्राप्त हुआ है–ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है। इस शास्त्र में रस शास्त्रज्ञ योगियों ने पारदादि के प्रयोगों का वर्णन किया है जिससे मानवदेह को दिव्य एवं अजर अमर बनाया जा सकता है। तालु में पारा को बाँधने से आकाश गमन का उल्लेख भी रस शास्त्र में मिलता है। देवता और असुर दोनों ही दिव्य औषधियों के ज्ञाता होते हैं इन औषधियों के प्रयोग से वह शरीरों को पुनर्जीवित कर देने की सामर्थ्य रखते हैं हिमालय में ऐसी जड़ी होती है जिसके थोड़ा-सा खा लेने पर १०-१५ दिन के लिये भूख प्यास मिट जाती है किन्तु शरीर ताकतवर बना रहता है। अन्न भी एक प्रकार से औषध है जिस पर मानव का शरीर टिका हुआ है। यह मानव शरीर का मुख्य स्तम्भ है। तीसरे प्रकार की सिद्धि मन्त्र के प्रयोग से प्राप्तव्या होती है। अध्यात्म साधना में मन्त्र योग का बहुत बड़ा महत्व है। मन्त्र सिद्धि के प्रभाव से सारे विश्व को वश में किया जा सकता है। मन की एकाग्रता के लिये मन्त्र साधना मुख्य साधना मानी जाती है। मन्त्र साधना से साधक के अन्दर वह ऊर्जा या शक्ति उत्पन्न होती है जो अन्तःकरण के अन्धकार को समूल नष्ट करने में सक्षम है। मन्त्र वर्णों के मेल से बनता है और वर्ण उच्चारण में ध्वनि का प्रयोग किया जाता है इस प्रकार से मन्त्र ध्वन्यात्मक होने से ही इसे 'शब्द' के नाम से सन्त साधना में साधना का आधार माना जाता है। इस शब्द से ही ज्योति प्रकट होती है और उस ज्योति के समुदित होने पर ही रूप दर्शन संभव होता है। योगियों ने शब्द, ज्योति एवं रूप के पारस्परिक सम्बन्ध को समझकर ही मन्त्र साधना पर बल दिया है। हमारे उपनिषदों एवं पुराणों में भी नाद ब्रह्म को सृष्टि रचना की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति माना है जो ओंकार के रूप में सर्वविदित है। इस ओंकार से ही सृष्टि में प्रकार की उत्पत्ति मानी जाती है। ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ बाईबिल में भी आया है In the begining of creation there was only the word. अर्थात् सृष्टि के आदि में शब्द ही व्याप्त था उससे ही उत्तरोत्तर सृष्टि विकास हुआ है।

मन्त्र एक ऐसा Remote Controller है जिससे समस्त प्रकृति को आधीन किया जा सकता है योग दर्शन मे भी **'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग:'** कहकर यही बताया गया है कि मन्त्र जाप की साधना से ही इष्ट देव के दर्शन हो सकते है। चौथे प्रकार की सिद्धि तपोजा सिद्धि होती है। तप का महत्व सर्व विदित है **'तपसा चीयते ब्रह्म'** तप से ही ब्रह्म का दर्शन हो सकता है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव तप के प्रभाव से ही सृष्टि उद्भव पालन एवं संहार मे समर्थ होते है। तप वह कैंची है जिससे जन्म-जन्मान्तर के जिससे कर्म एवं संस्कार जाल को काटा जा सकता है। योग दर्शन मे तप का फल बताते हुये **'कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:'** कहा गया है अर्थात् तप के अनुष्ठान से अशुद्धि सिद्धि मिलती है कायिक सिद्धि से शरीर अत्यन्त रूप एवं लावण्यमय हो जाता है तथा शरीर को वज्र के समान कठोर बनाया जा सकता है। ऐन्द्रिय सिद्धि के हो जाने पर इन्द्रिय अतीन्द्रिय शक्ति से युक्त हो जाती है और दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूर स्पर्शन आदि-आदि सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार से तप से भी शरीर एवं इन्द्रियों मे लोकोत्तर शक्ति आ जाती है। तप एवं ब्रह्मचर्य के द्वारा देवो ने मृत्यु को जीत लिया, यह बात प्रसिद्ध ही है। वस्तुत: तप ही साधक को समाधि द्वार तक पहुँचने के योग्य बनाता है। जो तपस्वी नही है उसे योग सिद्ध नही हो सकता, ऐसा व्यास भाष्य मे कहा गया है। तप के दृढ़तर अभ्यास से साधक कुन्दन की भाँति परम विशुद्ध हो जाता है। पाँचवें प्रकार की सिद्धि समाधि से उत्पन्न होने वाली है इसलिये समाधिजा सिद्धि कही जाती है यह सिद्धि योगांगों के अनुष्ठान से तथा धारणा-ध्यान-समाधि के अभ्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ है। पातञ्जल पद्धति से की जाने वाली साधना समाधिजा सिद्धियाँ प्रदान करती है जिनका मूल संयम है। योगी का लक्ष्य क्लेश कर्मादि से युक्त चित्त को कर्म वासना से सर्वथा निर्मूल बनाना है। इसलिये औषधि, मन्त्र एवं तप से अनेक सिद्धियो के प्राप्त कर लेने पर भी उसका चित्त वासना से निर्मूल नही बन पाता इसी कारण से पतञ्जलि जी ने योग दर्शन मे एक सूत्र दिया है **'तत्र ध्यानजं अनाशयम्'** अर्थात् ध्यानयोग के दृढ़ अभ्यास से एवं समाधि की भावना से युक्त चित्त ही कर्माशय रहित होता है इस प्रकार से निष्कर्ष यह निकला कि साधक को बहुत-सारी सिद्धियों की प्राप्ति हो सकती है और वह भौतिक प्रकृति पर अधिकार पा सकता है किन्तु कैवल्य का अधिकारी नही बन पाता इसलिये समाधि के अभ्यास से सिद्ध हुआ चित्त ही कैवल्यभाक् होता है ऐसा मानना चाहिये।

इस सूत्र से पतञ्जलि जी ने यह समझाने का प्रयास किया है कि बड़े-बड़े दिव्य देह धारी देव दानव-मनुष्य अजर अमर भी हो सकते है। किन्तु जब तक कोई निर्बीज समाधि तक नही पहुँच जाता है उसे संसार चक्र मे भ्रमण करना ही पड़ता है। समाधि से निर्वासिना हुआ चित्त ही कैवल्य पद को देने वाला है। ✲✲✲

आध्यात्मिक जगत एवं श्री गुरुदेव

(पूर्णचन्द पन्त)

विधाता ने सभी इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुखी बनाये है जिस कारण जीवन स्वभावतः बाहर के विषयों का ही अनुभव करता रहता है। वह अपनी इन्द्रियों से उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का अनुभव करता हुआ उन्ही मे लिप्त रहकर संसार चक्र मे भटकता रहता है। अपने निज स्वरूप का उसे कोई ज्ञान नही होता। यह अज्ञान ही जीव के जन्म-मरण का कारण है।

बाह्य जगत को संसार कहा जाता है। **'संसरतीति संसारः'** इस परिभाषा के अनुसार जो परिवर्तनशील है, नाशवान है, जहाँ मोह और अज्ञान का साम्राज्य है और जहाँ जीव को विवश होकर प्रकृति की शक्तियों के आधीन रहना पड़ता है उसे ही संसार कहा जाता है।

किन्तु आध्यात्मिक जगत इससे सर्वथा भिन्न है वहाँ सत्, चित् एवं आनन्द का सतत प्रवाह रहता है। वहाँ पहुँचकर जीव प्रकृति के नियन्त्रण से मुक्त ही नही हो जाता बल्कि प्रकृति की सभी शक्तियों का स्वामी बन जाता है। आध्यात्मिक जगत मे प्रवेश कर लेने पर मनुष्य पर ईश्वर की अव्यक्त प्रकृति अर्थात् माया का कोई प्रभाव नही रहता। सुख-दुःख तथा लाभ-हानि मे उसकी चित्तवृत्ति समान रहती है। और वह हर स्थिति मे अपने सच्चिदानन्दमय आत्म स्वरूप मे आनन्द मग्न रहता है। क्योंकि मनुष्य का मन अपार शक्तियों का भण्डार है। वह जितना चञ्चल है, उतना ही शक्तिशाली भी है। जब तक वह अनियन्त्रित है, उसकी शक्ति का अनुभव नही होता। कारण कि- **'संकल्प-विकल्पात्मकं मनः'** इस सिद्धान्त के आधार पर मन का व्यापार संकल्प विकल्प करना मात्र है, किन्तु जब साधक मन पर नियन्त्रण कर लेता है, तो मन की वह विलक्षण शक्ति जो कि-संकल्प-विकल्प मे प्रतिक्षण नष्ट होती रहती थी, वह नष्ट होने की अपेक्षा उसके पास एकत्रित होने लगती है। ज्यों ही उसके मन मे कोई संकल्प उठता है, संचित शक्ति तत्काल उस संकल्प को पूरा करती है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से साधक योग की अन्तिम भूमिका समाधि को प्राप्त कर लेता है तथा अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व इन अष्ट-सिद्धियों तथा दूर दर्शन, दूरश्रवण, आकाशगमन, भूतजय तथा परकाया प्रवेश आदि सिद्धियों का स्वामी बन जाता है।

चूँकि जीव अनादि काल से अज्ञान रूपी अन्धकार मे भटकता रहा है। अतः वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे तब तक प्रवेश नही कर सकता, जब तक उसे सद्गुरु की प्राप्ति नही होती। गुरु शब्द का अर्थ है- अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाने वाला।

जैसा कि कहा गया है-

गु शब्दोन्धकारः स्यात्,
रू शब्दस्तन्निरोधकः।

अर्थात्- गु शब्द का अर्थ है अन्धकार और रु शब्द का अर्थ है उसे रोकने वाला।

मनुष्य को सद्गुरु की प्राप्ति जन्मजन्मान्तर से संचित पुण्यों के फलस्वरूप ही हुआ करती है। जब अनेक जन्मों के पुण्यों का उदय होता है तभी प्रभु कृपा से किसी सन्त के रूप में गुरुदेव मिला करते है। प्रभु कृपा के बिना गुरुदेव नहीं मिल सकते।

श्री रामचरित मानस मे कहा भी गया है-

अब मोहि भा भरोसा हनुमंता।
बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।।

व्यावहारिक जगत मे गुरुदेव जहाँ स्थूल रूप से साधक का मार्ग निर्देशन करते है और उस पर हर प्रकार की कृपा किया करते है, वहीं अन्तर्जगत मे सूक्ष्म शरीर से उस पर सतत् कृपा-दृष्टि करते रहते है। गुरुदेव की शरण मे आ जाने पर साधक के लौकिक कार्य भी स्वतः सिद्ध होते जाते है। गुरुशक्ति सदा उसके साथ रहा करती है और कदम-कदम पर उसकी सहायता करती है। शरण मे आते ही साधक का गुरुदेव के साथ एक अभेद्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और गुरुदेव सूक्ष्म शरीर से सदा उसके पास रहा करते है। उनका सम्बन्ध उसी प्रकार परस्पर बना रहता है जिस प्रकार 'वायरलेस' मे लोग एक दूसरे से सम्पर्क रखा करते है और दूर रहते हुए भी वे एक दूसरे को उसी प्रकार देखा करते है जैसे कि टेलीविजन मे लोग दूरस्थ घटना को प्रत्यक्ष रूप से देखते है दूसरे शब्दों मे गुरुदेव को एक प्रकार का टेलीविजन केन्द्र भी कहा जा सकता है और साधक का अन्तःकरण टेलीविजन यन्त्र के समान है। अन्तर केवल इतना है, कि इस केन्द्र से गुरुदेव किसी दृश्य विशेष एवं सन्देश को प्रसारित करने के साथ-साथ प्रत्येक घटना को स्वयं भी देख एवं सुन सकते है। आवश्यता इस बात की है कि- साधक अपने मनरूपी रिसीवर को ठीक रखे। ताकि गुरुदेव द्वारा प्रसारित सन्देश हम ग्रहण कर सकें। यन्त्र को ठीक रखना साधक का काम है। यदि वह अपने अन्तःकरण रूपी यन्त्र को यथार्थ स्थिति में नहीं रख सकता, तो उसके लिए गुरुदेव की शक्ति पर सन्देह रखना ठीक नहीं है।

'गुरु' शब्द का अर्थ जितना सरल है, वह स्वयं मे उतना ही व्यापक भी है। गुरुतत्व अखण्ड मण्डलाकार रूप से तीनों लोकों और सभी ब्रह्माण्डों मे सदा व्याप्त रहता है।

घटाकाश गुप्तं महाकाश रूपं,
चिदाकाश व्यक्तं गुरुदेव नमामि।

अर्थात्-घड़े के अन्दर स्थित आकाश की भाँति गुप्त, विस्तृत आकाश की भाँति सर्वत्र व्यापक तथा प्रकाश रूप आकाश में प्रकट होने वाले गुरुदेव को मै प्रणाम करता हूँ।

गुरु तत्व वह विशुद्ध परब्रह्म है, जो कि काल की हद से भी परे है। वह गुरुओं का भी गुरु है।

योग दर्शन में कहा गया है:-

स: पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात्- काल की हद से परे होने के कारण वह पिछले सभी गुरुओं अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर आदि का भी गुरु है।

गुरुदेव **'कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुम'** की सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु साधक के हृदय में श्रद्धा और विश्वास का होना नितान्त आवश्यक है।

भगवदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:-

श्रद्धावान लभते ज्ञानं,

तत्परः संयतेन्द्रियः।

धर्मशास्त्र में कहा गया है:-

देवे तीर्थे द्विजे, मन्त्रे,

दैवज्ञे, भेषजे, गुरौ।

यादृशी भावना यस्य,

सिद्धिर्भवति तादृशी।।

अर्थात्- देव में, तीर्थ में, ब्राह्मण में, मन्त्र में, ज्योतिषी में, वैद्य में एवं गुरु में जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

साधक को गुरु में एवं ईश्वर में भेद-बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है:-

यस्य देवे परा भक्तिः

यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः

प्रकाशन्ते महात्मनः।।

अर्थात्- जिसकी ईश्वर पर अगाध भक्ति हो तथा वैसी ही प्रगाढ़ भक्ति श्री गुरुचरणों में भी हो वही व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

आध्यात्मिक मार्ग के पथिक को अपना आहार-विहार शुद्ध रखना चाहिए। उसे ऐसे पवित्र वातावरण में रहना चाहिये जो उसकी प्रगति में सहायक हो। अन्यथा आहार दोष एवं संग दोष से उसका अन्तःकरण पुनः मलिन हो जायेगा और उसकी प्रगति रुक जायेगी। यम- नियमों का पालन करना साधक के लिये नितान्त आवश्यक है।

आध्यात्मिक जगत इस दृश्यमान बाह्य जगत से कहीं अधिक विस्तृत है और समस्त ब्रह्माण्ड इस पिण्ड रूप देह में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। बाह्य जगत में जो भी भौतिक उपलब्धियाँ आज हमें दिखाई दे रही हैं उससे कहीं अधिक चमत्कार पूर्ण कार्य योगी लोग अध्यात्म विज्ञान से किया करते हैं। आध्यात्मिक जगत में योगीजन मनोबल से विचरण किया करते हैं और अपने संकल्प मात्र से असंभव से असंभव कार्य को सम्पन्न कर लिया करते हैं।

आध्यात्मिक जगत (रूहानी दुनिया) में प्रवेश करना कठिन अवश्य है किन्तु असंभव नहीं है। अष्टांग योग का अभ्यासी जिज्ञासु साधक भी सद्गुरु की कृपा से इस विलक्षण एवं आनन्दमय जगत में प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है। और ध्यान योग के अनवरत अभ्यास से उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म में लीन होकर सदा सदा के संसार चक्र से छूट जाता है।

***

जब गुरुजी ने नवजीवन दिया दिव्यजी को

राधेश्याम तिवारी

यौगिक शक्तियाँ न केवल शाश्वत सत्य हैं, बल्कि सद्गुरु की असीम अनुकम्पा से आधिकारिक लोग इससे उपकृत होते रहते हैं। यदि योगेश्वर कृपालु होते तो वह अपनी अलौकिक शक्ति के परिचय की तरह मृत्यु के बाहुपाश में जकड़े व्यक्ति को भी जीवन दान देकर करा देते हैं।

आज से कोई सत्रह-अठारह वर्ष पूर्व की घटना है। 'सिद्धयोग' के पूर्व सम्पादक श्री देवी प्रसाद शर्मा 'दिव्य' बहुत बीमार पड़े। धीरे-धीरे उनका

[illegible] दिव्यजी। इन्दौर में योगयोगेश्वर श्री [illegible] महाराज।

स्वास्थ्य इतना क्षीण हो गया कि चिकित्सकों तक ने जवाब दे दिया। लगभग १५ दिन तक तो वे बिल्कुल चेतनाशून्य स्थिति में शैय्या पर पड़े रहे। परिजनों-मित्रों ने उनके जीने की सभी आशायें छोड़ दी थीं। चिकित्सालय में शुभ चिन्तकों का ताँता लगा रहता- जैसे वे दिव्यजी के अंतिम दर्शन कर रहे हों। सारा परिवार बहुत दुःखी और किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुँच गया था।

एक दिन जब स्थिति बहुत अधिक बिगड़ गई और कोई राहत दिखलाई नहीं दे रही थी, तब किसी ने योग-योगेश्वर सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की शरण में जाने और उनकी कृपा प्राप्त करने का परिजनों को सुझाव दिया। समय व्यर्थ गंवाये बिना दिव्यजी के सुपुत्र श्री राजेन्द्र प्रसाद शर्मा तुरन्त संवाई आश्रम के लिए रवाना हो लिए। वहाँ श्री गुरुजी विश्राम कक्ष में थे। संदेश पाकर वे उठे और राजेन्द्रजी को भीतर बुलाकर आगमन का कारण पूछा। सारा वृतांत सुनने के बाद श्री गुरुजी ने कहा कि "लल्ला! तुम चलो हम आते हैं"। उनके इस जवाब में सान्त्वना के साथ-साथ दिव्यजी की प्राणरक्षा का संकल्प भी स्पष्ट झलकता था।

श्री राजेन्द्र जी आश्वस्त हो चले आये। किन्तु जब वे चिकित्सालय वापस पहुँचे तो देखा गुरुदेव पहले से वहाँ उपस्थित थे। उनके साथ श्री भुवनेन्द्र झा (सिद्धयोग के संयुक्त सम्पादक) भी थे। वे अपने साथ दो फल (सम्भवतः मौसमी थी) भी लाये थे। दिव्य जड़ अचेतावस्था में शैय्या पर थे। कक्ष में उपस्थित सभी लोगों के चेहरों पर उदासी छायी थी। शायद किसी को आशा नहीं थी कि दिव्य जी अब जीवित रह पायेंगे। श्री गुरुदेव को अपने कर-कमलों से दिव्य जी के मस्तक पर शक्तिपात करते हुए सभी ने देखा व "लल्ला देवी प्रसाद" बुलाते हुए सुना। कुछ क्षण बाद ही दिव्य जी की चेतनता लौटने लगी। उन्होंने धीरे-धीरे आँखे खोलीं और सबसे पहले पास ही खड़े झा साहब को पहचाना। फिर गुरुदेवजी की ओर देखकर अभिवादन के लिए उन्होंने शैय्या से उठने का प्रयत्न किया, तो श्री गुरुदेव ने उन्हें रोक दिया और लेटे रहने के लिए कहा।

इसके बाद अपने साथ लाये दोनों फलों को शक्तिपात मुद्रा में ही अपने कर-कमलों से दिव्यजी की अर्धांगिनी को सौंपते हुए निर्देश दिया कि वे इन फलों का रस केवल दिव्य जी को ही दें और जो कुछ अनुभव हो उसकी जानकारी

आश्रम पर उन्हें देते रहे। फिर सभी को आशिर्वचन कहते हुए पुनः दिव्य जी के मस्तक पर वरद्हस्त रख कर श्री गुरुदेव संवाई लौट आये और निज स्वरूप में स्थित हो गये। तीसरे दिन जब राजेन्द्र जी कुशलक्षेम का समाचार लेकर संवाई पहुँचे तो गुरुदेव प्रसन्न मुद्रा में थे। समाचार पाकर वे मुस्करा उठे और सभी हालचाल पूछकर बोले "श्री प्रभुजी ऐसे ही अपने बालकों की रक्षा किया करते है।" श्री गुरुदेव जी रोम-रोम से प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

राजेन्द्र जी ने अपनी माताजी को उस रात्रि स्वप्न में जो कुछ दिखाई दिया उसका विवरण देते हुए श्री गुरुदेव जी को बताया कि कोई दाढ़ी वाला भव्य सन्यासी किसी राक्षसी देहधारी से लड़ रहा है और पास ही लेटे हुए दिव्य जी को अपने साथ ले जाये जाने से उसे रोक रहा है। इस वृतांत से श्री गुरुदेव पुनः मुस्करा गये।

इस प्रकार श्री गुरुदेव ने संभवतः योग की एक जटिल प्रक्रिया 'शक्तिपात' द्वारा दिव्य जी की प्राणरक्षा की और अपने एक सुयोग्य शिष्य को नव जीवन प्रदान किया। इस घटना के बाद दिव्यजी लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहे तथा 'सिद्धयोग' का सम्पादन करते हुए १५ दिसम्बर १९९४ को दिवंगत हो गये। उनकी तृतीय पुण्यतिथि पर हम उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

***

मनुष्य ही विश्वात्मा और परम अमृत है। मनुष्य ही ब्रह्म है और मनुष्य के महत्व की अनुभूति प्राप्त करना ही मुक्ति प्राप्त करना है। वह विश्वरूप है। मिथ्या के आवरणों में प्रच्छन्न मनुष्य को पहचानना ही अविद्या के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना है।

—मुण्डकोपनिषद्

अपना उद्धार और अपना विनाश अपने हाथ में है।

ब्र० ओमप्रकाश (लखनऊ)

इस बाह्य जगत में अपने सिवा अपना उद्धार करने वाला कोई मित्र पैदा नही हुआ, अपने सिवा अपना विनाश करने वाला कोई शत्रु पैदा नही हुआ। योग योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में इसी बात को कहा है-

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।६/५।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६/६।।

अर्थात्- अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र में उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डालें क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है, और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियाँ सहित शरीर नही जीता गया है उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता है।

काम-क्रोध-लोभ-अहंकार में फंसी हुई, वश में न की हुई हमारी यह निरंकुश इन्द्रिय-मन-बुद्धि ही, इन्द्रिय-मन-बुद्धि अहंकार समष्टि यह जड़ अष्टधा अन्तः अपरा प्रकृति ही हमारी शत्रु है; काम-क्रोध-लोभ-अहंकार से मुक्त, वश में की हुई हमारी यह निर्मल इन्द्रिय-मन-बुद्धि ही यह निर्मल अन्तः अपरा प्रकृति ही हमारी मित्र है। इस प्रकार से हम सब अपने मित्र और अपने शत्रु स्वयं आप ही है, इसलिए अपने से बाहर इस बाह्य जगत में अपना उद्धार या विनाश करने वाला कोई दूसरा मित्र या शत्रु नहीं है।

जिसने प्रमाद को त्यागकर अपनी इन्द्रिय-मन-बुद्धिपर अपनी जड़ अन्तः अपरा प्रकृति पर-नियंत्रण पा लिया है, उसे निर्मल बना लिया है, वह अपना उद्धार करने वाला अपना मित्र स्वयं आप है, लेकिन प्रमादवश जो काम-क्रोध-लोभ-अहंकार में फँसी अपनी मलिन निरंकुश इन्द्रिय-मन-बुद्धि के अपनी जड़ अन्तः अपरा प्रकृति के हाथों का खिलौना बना हुआ है, वह अपना विनाश करने वाला अपना शत्रु स्वयं आप है। निम्नलिखित उपनिषद का श्लोक भी गीता के इस भाव की परिपुष्टि करता है-

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।

अर्थात्–वश मे किया हुआ निर्विषय निर्मल मन मुक्ति का कारण होता है, वश मे न किया हुआ निरंकुश विषयासक्त मलिन मन बन्धन का कारण होता है। इसी बात को योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता के तेरहवें अध्याय मे आये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के रूपक द्वारा भी समझाया है। वास्तव में इन्द्रिय मन-बुद्धि समष्टि यह जड़ अपरा अन्तः प्रकृति ही क्षेत्र है और चेतन परा प्रकृति ही क्षेत्रज्ञ (अथवा पुरुष) है। यह क्षेत्रज्ञ (पुरुष) ही क्षेत्र का स्वामी है, क्षेत्र का नियन्त्रण करने वाला है, क्षेत्र का सदुपयोग अथवा दुरूपयोग करने वाला है। किसी प्रमाद ग्रस्त किसान की तरह जब यह क्षेत्रज्ञ (पुरुष अपने क्षेत्र के प्रति जागरूक नही रहता, उस पर नियन्त्रण नही रखता, उसकी देखभाल नही करता) तो वहाँ काम-क्रोध-लोभ असत्य आदि के विष-वृक्ष, घास-फूस, काँटे-कबाड़ की तरह उगने लगते है और अन्ततः बन्धन और मृत्यु रूपी अपना विष फल, फलकर उसके तथा दूसरों को दुःख एवं अशान्ति का कारण बनते है। लेकिन जब क्षेत्रज्ञ (पुरुष) अपने क्षेत्र के प्रति निरन्तर जागरूक हो उस पर नियन्त्रण रखता है। उसमे पहले से उगे हुए काम-क्रोध-लोभ-असत्य आदि विषय वृक्ष रूपी काँटे-कबाड़ को उखाड़ फैंकता है और उन्हे पुनः उगने नही देता, प्रत्युत उनकी जगह सत्य, प्रेम, क्षमा, दया रूपी 'अमृत' की खेती करता है तो अमरता रूपी, मुक्ति रूपी फल लाभ करता है। साथ ही भगवान श्रीकृष्ण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस रूपक द्वारा क्षेत्रज्ञ (पुरुष) की 'स्वतंत्रता' को भी बता रहे है। अपने क्षेत्र में शुभ-अशुभ बोने मे वह परम स्वतंत्र है, लेकिन बोकर काटना तो उसे वही पड़ेगा, जो उसने बोया है। शुभ बोया है, तो शुभ ही काटेगा, अशुभ बोया है तो अशुभ ही काटेगा। कर्म के इस विधान को वह तोड़ नही सकता ! इसी कर्मयोग के अटल सिद्धान्त को रामायण मे भी बताया है यथा:-

कर्म प्रधान विश्व रचिराखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ।।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी मुक्ति या बन्धन उसके अपने हाथ मे है। अपना सच्चा उद्धार अपने विवेक और वैराग्य द्वारा ही सम्भव होता है। भौतिक मित्रों (बन्धु-बान्धव, माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) का प्रेम, धन, दौलत, उच्चपद आपके आर्थिक संकट मे अथवा किसी भौतिक विपत्ति में आप का सहायक हो सकता है, लेकिन उनका विवेक वैराग्य आपके काम मे नही आ सकता, उसके विवेक वैराग्य से आप के उद्धार मे कोई मदद नही मिलती। आपका अपना विवेक-वैराग्य ही आपका उद्धार कर सकता है। और उसका अभाव-विनाश। इसी भाव मे यह कहा गया है कि आपको छोड़कर आपका उद्धार करने वाला कोई दूसरा मित्र इस दुनियाँ मे नही है। भौतिक स्तर पर वे भले ही आपकी कुछ भलाई या बुराई कर पावे लेकिन आध्यात्मिक स्तर

पर उनक साथ छूट जाता है, आध्यात्मिक स्तर पर आप अकेले रह जाते हैं। वहाँ आपका अपना विवेक-वैराग्य ही विवेक-वैराग्य युक्त निर्मल मन ही आपका परम और एकमात्र मित्र रह जाता है, अविवेक-रागयुक्त विषयासक्त मन ही परम और एकमात्र शत्रु है।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह है कि मृत्यु के बाद ये भौतिक मित्र व शत्रु छूट जाते हैं, लेकिन मित्र या शत्रु हमारा यह मन साथ नहीं छोड़ता ! अतः जन्म-जन्मान्तरों का साथी यह अपना मन ही वास्तव में एकमात्र सच्चा मित्र या शत्रु है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि कभी भी जीवात्मा का साथ न छोड़ने वाले इस मन को काम-क्रोध-लोभ असत्यादि से मुक्त कर, इसे निर्मल बनाकर सदा के लिए अपना परम मुक्ति दाता मित्र क्यों न बना लिया जाय। जीवात्मा को एकमात्र बन्धन में डालने वाली उसकी तृष्णा वासना और कामना ही है। यही प्राणीमात्र को न चाहते हुए भी पाप में प्रवृत्त करती है, उन्हें बन्धनकारी आत्म-विनाशी पाप-कर्म, मूढ़ कर्म, सकाम कर्म, अयज्ञ कर्म करने को विवश करती है, रजोगुण (तथा तमोगुण अर्थात् अज्ञान) से तृष्णा की उत्पत्ति होती है और यह मायाविनी तृष्णा ही, यह पापिनी तृष्णा ही कभी क्रोध का (और कभी लोभ का) रूप धारण करती है और हमारी परम शत्रु है यह तृष्णा ही रानाग्नि को धूम्र की तरह और ज्ञान दर्पण को धूल आदि मल की तरह ढक लेती है। कामनायें जैसे-जैसे अधिक मूढ़ होती जाती हैं, ज्ञान के ऊपर का यह पर्दा भी यह आवरण भी अधिक सघन होता जाता है और अन्ततः ज्ञान को पूर्ण रूपेण ढक कर आदमी को गर्भ के अन्दर जेर में बँधे अजात शिशु की तरह ही असहाय और विवश बना देता है। यह तृष्णा ही ज्ञान को, ज्ञानसूर्य को, आत्म सूर्य को, सघन काले मेघ सा ढंक लेती है और जीवन को अन्धकारमय बना देती है। कामनाओं की पूर्ति से कामना का अन्त नहीं होता, कामनाओं का उपशम नहीं होता, कामनाओं से मुक्ति नहीं मिलती, बल्कि कामनाओं की भोग द्वारा पूर्ति कामना को और भी भड़का देती है। जैसे अग्नि में घृत डालने पर बुझने की जगह वह और भी भड़क उठती है। भोग कामाग्नि के लिए घृत का काम करता है।

यह इन्द्रिय-मन-बुद्धि ही इन्द्रिय-मन-बुद्धि समष्टि यह जड़ अन्तः प्रकृति ही- इस कामना के क्षेत्र हैं। गढ़ है। इन्हें ही अपने अधिकार में करके यह प्राणि-मात्र को मोहित करती है, विमूढ़ बनाती है। और आँखों पर पट्टी बँधे कोल्हू के बैल सा उसे चौरासी लाख का यह भयावह चक्कर काटने को विवश करती है। अतः इस परम शत्रु पर विजय पाने के लिए, इस परम शत्रु से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय-मन-बुद्धि पर- इस जड़ अन्तः प्रकृति पर विजय पानी ही होगी। गीता में कहा भी है **''कामएष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।''**

यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि इन्द्रियाँ (मनबुद्धि) बड़ी ही बलवती है लेकिन विवेकी (आत्मवान) पुरुष के लिए यह दुष्कर कार्य भी सरल हो जाता है, क्योंकि मन इन्द्रियों से ऊपर की सत्ता है, बुद्धि मन से ऊपर की सत्ता है और आत्मा (आत्म विवेक) बुद्धि से कही ऊपर की सत्ता है। अतः इन्द्रियों पर मन की सहायता से, मन पर बुद्धि की सहायता से और बुद्धि पर आत्मा की (आत्म-शक्ति विवेक और वैराग्य की) सहायता से विजय पाओ "यतेन्द्रियमनोबुद्धि" होकर अर्थात् प्रकृतिस्थ बुद्धि को आत्मस्थ बुद्धि बनाकर इस परम शत्रु काम का, तृष्णा का मूलोच्छेद करना होगा।

और इस प्रकार इन्द्रिय-मन-बुद्धि पर विजय पा, यतेन्द्रियमनो बुद्धि हो, आत्मस्थ बुद्धि हो, इस काम-क्रोध, लोभ से मुक्ति या मन को निर्मल बनाकर काम-क्रोध, लोभ अधिष्ठान इस जड़ अन्तः प्रकृति को निर्मल जो बना लेता है वही आत्मस्था बुद्धि निर्मल मन महात्मा वास्तव में निर्वाण प्राप्त करता है, मोक्ष हो जाता है। और वह सर्वत्र आत्मा का-ब्रह्म का दर्शन करता है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म" उसके जीवन का सत्य हो जाता है क्योंकि उसका ज्ञान-सूर्य, आत्म-सूर्य तृष्णा के सघन मेघों से काम-क्रोध, लोभ अहंकार के सघन मेघो से निरावृत हो, उसकी इन्द्रिय-मन बुद्धि को अपनी दिव्य प्रभा से दिव्य बना देता है और यह दिव्य इन्द्रिय-मन-बुद्धि आत्मा द्वारा आलोकित इस अखिल जगत को आत्म-प्रभामय, आत्मामय, ब्रह्ममय अनुभव करती है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति योग आदि सभी योगो की सबसे पहली और सबसे अंतिम बाधा है-काम-क्रोध, लोभ, अहंकार और वास्तव में ये सभी साधनायें भी इस काम- क्रोध-लोभ-अहंकार के विनाश के लिए ही की जाती है।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किचं जगत्यां जगत
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

अर्थात्

इस जगत में जो भी कुछ है वह सब परमात्मा द्वारा परिव्याप्त है। अतः त्याग के द्वारा तू सब का उपभोग कर दूसरों की सम्पत्ति के प्रति लोभ मत कर।

—ईशोपनिषद्

आश्रमवासी ब्रह्मचारियों पर

श्री गुरुदेव का वात्सल्य

आचार्य पूर्णचन्द शर्मा (ऋषिकेश)

माह अक्टूबर ९७ के 'सिद्धयोग' पत्रिका में प्रकाशित एक भाई का लेख ब्रह्मचारी और गृहस्थी में कौन बड़ा ? पढ़कर करुणा कृपासागर अनन्त श्री गुरुदेव जी के सानिध्य काल के कुछ क्षणों की स्मृति हो आई। कुछ घटनायें उनके वचन, दयालता का स्मरण करके हृदय में प्रेरणा हुई। मान-बड़ाई, द्वेष और छोटे-बड़े की पहचान से श्री गुरुदेव जी ने सदा बचने का उपदेश किया। साधना पथ में बाधक बताया व इनसे ऊपर उठने के लिये योग करने का उपदेश व आज्ञा करते थे।

हमारे गुरुदेव जी सदा यह बात कहा करते थे 'हमारे गुरुदेव जी कोई साधारण गुरुदेव नहीं हैं। बड़े ही भाग्य से, पूर्व जन्मों के भारी पुण्य संस्कारों से ही ऐसे गुरुदेव मिला करते हैं। शास्त्रों का प्रमाण भी है- 'सद्गुरु का साक्षात्कार पूर्व जन्मों के महान पुण्यों के बिना नहीं प्राप्त होता। मुझे वह घटना याद आ रही है। हमारे आश्रम के ब्रह्मचारियों में पहले एक सूरज हुआ करते थे। उन्हें श्री प्रभुजी का अनन्य प्रेम प्राप्त हुआ। अपने जीवन के अन्त समय में संवाई आश्रम आये। उनका शरीर रोगी था। श्री गुरुदेव जी ने उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया। देखभाल के लिये ब्र० केशव देव की ड्यूटी लगा दी।

आनन्दकन्द श्री प्रभु जी लखनऊ आश्रम के योग-प्रचार कार्यक्रम सम्पन्न करने के लिये दिल्ली से गंगा जमुना एक्सप्रेस से जा रहे थे। टूण्डला रेलवे स्टेशन पर ब्र० रतिराम व कुछ गुरुभाइयों ने गुरुदेव जी को सूचना दी कि सूरज का शरीर छूट गया है और ब्र० केशव देव उसके मृत शरीर को लेकर गाँव चले गये। श्री प्रभु जी ने लखनऊ का योग प्रचार कार्यक्रम स्थगित कर दिया और अपने ब्रह्मचारियों के साथ टूण्डला स्टेशन पर उतर पड़े। वहाँ से आश्रम आये। अगले दिन प्रातःकाल ५ बजे कुछ ब्रह्मचारियों को साथ लेकर सूरज के गाँव के लिये कार से चल पड़े। जहाँ दाह संस्कार के लिये शव रखा था, वहाँ पहुँचकर शव पर पुष्प डाले। जब चिता पर रखा हुआ शव अग्नि में जल रहा था, उस समय भी गुरुदेव ने पुष्प डाले। तत्पश्चात सभी को आशीर्वाद व सान्त्वना देते हुये गुरुदेव जी वहाँ से चल पड़े। श्री प्रभु जी की दयालुता देखकर रास्ते में मेरा मन भर आया। मैंने सोचा-हमारे श्री प्रभु जी कितने दयालु हैं। सूरज ने उनके

साथ क्या किया। उसे सद्‌गति प्रदान करने के लिये उसके गाँव तक गये और सद्‌गति प्रदान की। मेरा मन सोचनीय मुद्रा मे था। श्री गुरुदेव जी ने पूछा- लल्ला क्या सोच रहे हो ? इतने मे एक ट्यूबवेल चलता हुआ दिखाई दिया, उन्होंने स्नान के लिये गाड़ी रुकवाई और उतरते हुये ये शब्द कहे- 'लल्ला, सूरज तुम्हारा भाई था। उसको वहीं जाना है जहाँ तुमने जाना है। उस समय हमारे साथ ब्र० विनोद, सतीश थे। यह घटना आश्रम के कई लोगों को पता है।

दूसरी घटना श्री गुरुदेव के कानपुर योग-प्रचार कार्यक्रम मे घटित हुई। श्री सुरेश चन्द्र जी शर्मा के यहाँ मैकरावट गंज, कानपुर मे प्रतिवर्ष योग-प्रचार कार्यक्रम आयोजित होता था। एक वर्ष के कार्यक्रम मे कुछ इस प्रकार की घटना घटित हुई। श्री गुरुदेव जी महाराज वहाँ ठहरे हुये थे। परदे के पीछे कुछ लोग वार्तालाप कर रहे थे। जिसका मुख्य ध्येय यह था कि ब्रह्मचारियों के पास कुछ भी नही है। ये सब तो केवल खाने-पीने मात्र के लिये है। इसमे कुछ निहित स्वार्थी लोगों का हाथ था। इस प्रकार के कथोपकथन का लक्ष्य ब्रह्मचारियों की बदनामी करना था। श्री शर्माजी के यहाँ से टिप्पणी दी गई कि हमारे तो नौकरों तक का बहुत अच्छा ध्यान लगता है। ये सब बाते सुनकर श्री गुरुदेव जी हँसे।

अपने सायंकालीन प्रवचन मे श्री प्रभु जी ने श्री आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी की महिमा का वर्णन करते हुये, खेचरी आदि मुद्राओं पर प्रकाश डालते हुये, विषय को आगे बढ़ाया। हमारे गुरु भाई ब्र० रामाश्रय जी पण्डाल मे सबसे पीछे बैठे हुये थे। उन्हे ध्यानावस्था देते हुये उनकी खेचरी लगवा दी। ऐसी अवस्था मे ब्र० रामाश्रय को अपना होश नही रहा और बैठे रहे। प्रवचन के पश्चात श्री गुरुदेव जी एवं ब्रह्मचारियों के भोजन का प्रबन्ध था। सभी लोग पंक्तिबद्ध होकर मधुर कीर्तन करते हुये श्री गुरुदेव जी को भोजनालय मे ले गये। सभी ब्रह्मचारियों व भाइयों को भोजन के लिये बैठाया गया। श्री शर्मा जी ने ब्र० रामाश्रय को कई बार उठाने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। श्री प्रभुजी के भोजनोपरान्त उन्होंने श्री गुरुदेव जी से प्रार्थना की। श्री महाराज जी सभी को साथ लेकर वहाँ आये जहाँ ब्र० रामाश्रय समाधिस्थ थे। श्री प्रभु जी ने उनकी ध्यान स्थिति को नीचे उतारा उनके मुख में ऊँगली डालकर यह दिखाया कि खेचरी लगी हुई है। जिनके मन मे यह भाव बने हुये थे कि ब्रह्मचारियों के पास कुछ भी नही है, उन्हे बार-बार दिखाया कि पर छिन्द्रान्वेषण से बचे। किसके पास क्या है, क्या नही है, इस झमेले में न पड़कर अपनी साधना मे लगे रहें।

तीसरी घटना-आचार्य श्री भगवान देव, जिन्होंने दिल्ली मे विश्व योग सम्मेलन का

आयोजन किया था अपने आश्रम प्रवास के समय उन्होंने श्री गुरुदेव जी से पूछा-श्री महाराज जी, आपके कितने ब्रह्मचारियों की कुण्डलिनी जागृत है ? मुझे आज भी स्मृति है श्री गुरुदेव जी गम्भीर मुद्रा में आये और कहा 'लल्ला, हमारे सभी बच्चों की कुण्डलिनी जागृत है, लेकिन किसी को आभास नहीं है। सबका कन्ट्रोल हमारे पास है।' वहाँ कई लोग उपस्थित थे, सभी स्तब्ध थे किसी से कुछ भी कहते नहीं बना।

एक घटना और-श्री गुरुदेव जी से मैं प्रायः कहा करता था कि मैं अनुष्ठान करना चाहता हूँ। श्री प्रभुजी मुझसे सदा यही कहा करते थे हमारी आज्ञाओं का पालन करते रहो, यही अनुष्ठान है। आश्रम में गेहूँ की कटाई चल रही थी। प्रो० मन मोहन त्रिखा दिल्ली से सेवाई आश्रम आये हुये थे। आश्रम से तकरीबन सभी लोग खेतों में गेहूँ काटने जाया करते थे। एक बार श्री त्रिखाजी के मन में विचार आया कि मैं यहाँ पर ध्यान करने आया था और गेहूँ काटने में लग गया। यह विचार आते ही, वह गुफा में जाकर ध्यान में बैठ गये। सुबह दस बजे श्री प्रभु जी नाश्ता बाँटने के लिये खेत पर गये। मैं भी साथ में था। सबको नाश्ता बाँटने के बाद पूछने लगे आज त्रिखा नहीं दीख रहे। किसी ने बताया-'आज भाई त्रिखा जी गुफा में ध्यान में बैठे हैं। सुनकर श्री गुरुदेव जी हँसे और खेत से वापस आ गये।

सायंकाल श्री प्रभुजी अपने कमरे के सामने कुर्सी पर विराजमान हुये। उनके सामने टाट पर सभी लोग बैठे थे। श्री गुरुदेव जी ने त्रिखा जी से पूछा-'आज तुम खेत पर नहीं थे। गुफा में ध्यान में बैठे थे। श्री त्रिखा जी ने बताया कि मेरी इच्छा ध्यान में बैठने की हो गई इसलिये ध्यान में बैठ गया। श्री महाराज जी ने तत्काल ही यह कहा-'क्यों त्रिखा तुम तो गुफा में ध्यान कर रहे थे तुम्हारे जो भाई खेत में काम कर रहे थे क्या वे लोग ध्यान भजन नहीं कर रहे थे ? उन्होंने यह बात समझायी कि गुरुदेव की आज्ञाओं का पालन ही श्रेष्ठ ध्यान-भजन है।

इन सभी घटनाओं के परिपेक्ष्य में किसी को छोटे-बड़े के झमेले में नहीं पड़ना चाहिये। कौन-बड़ा कौन छोटा इसे जानने के लिये वो आँखे चाहिये। केवल उपाधियों से मनुष्य बड़ा नहीं हो जाता। इतनी बातें जो मैं आपके सामने कह रहा हूँ, आज तक कोई बात कभी नहीं कही। परन्तु वह लेख पढ़ने के बाद श्री प्रभु जी की प्रेरणा हुई, इसीलिये ये बातें बता देना मैंने उचित समझा। मैं बारम्बार श्री प्रभुजी को नमन करता हूँ इस अबोध बच्चे को सद्बुद्धि प्रदान करें, सेवा में लगाये रखें, यही कामना करते हैं। आप सभी के समक्ष एक प्रतिज्ञा रखता हूँ जिसे हम सभी प्रातःकाल गुरुदेव के सम्मुख बैठकर यह प्रार्थना किया करें-

प्रार्थना

"प्रण करता हूँ प्रण पालन की शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।
यम नियम पालन करने की शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

दुःख दूँ न कभी भी दुनिया में, जितने भी जीव नजर आयें।
सत् वचन कहूँ प्रिय वाणी में, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

चोरी न करूँ रिश्वत न गहूँ, काले धन्धों से दूर रहूँ।
पर तिरिया मात समान लखूँ, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

धन सम्पत्ति, भूमि घर आदि, आवश्यकता के अनुसार रहें।
जितना भी अधिक हो दान करूँ, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

मल त्याग पवित्रता धारूँ, शुद्धि के सारे काम करूँ।
कपटों से मन को साफ करूँ, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

संतोष रहे मेरे मन में, जो भी हो कमाई धर्म की हो।
वश में कर लूँ सब इन्द्रिय को, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

सत ग्रन्थों का मैं पाठ करूँ, गा-गा कर तेरा नाम रटूँ।
तेरी भक्ति से पूर्ण रहूँ, शक्ति गुरुदेव मुझे दे दो।।

ससीम से असीम की ओर जाने के लिये मन के सीमाबन्धनों को तोड़ें, तुच्छ विचारों की आदत को छोड़ें, अपनी अनन्त प्रकृति व आत्मा से सम्बन्ध जोड़ें, अपना व्यक्तित्व व्यापक बनायें, दूसरों के लिये निस्वार्थ सहानुभूति को विकसित करें, प्रेम की परिधि का विस्तार करें, अपनी सार्वभौमिकता की कल्पना करें और उसे अनुभव भी करें तथा सदा 'परमात्मा ही तो हूँ मैं' का बोध करने के लिये प्रयत्नशील रहें।

—योगानन्द परमहंस

योगसाधक का संविधान

ब्र० बृजमोहन वाशिष्ठ

जो कुछ भी गुरुदेव ने मुझ को दिया लिखाय।
योग साधक सामान्य की दिन चर्या रहा बतलाय।।
योगसाधक सामान्य जो पौने चार उठ जाय।
शुद्धि और स्नान कर गुरु सन्मुख हो जाय।।
श्रद्धा से प्रणाम कर आरती दीप जगाय।
आरती और प्रणाम कर बैठे ध्यान लगाय।।
पाँच बजे से सात तक नित्य प्रति ध्यान लगाय।
ध्यान लगे या ना लगे, बैठो नित्य दृढ़ाय।।
जहाँ प्रभु दरबार नहीं, नहीं कोई शौचाचार।
ध्यानाभ्यास में बैठो अवश्य क्यों होते लाचार।।
जहाँ बैठे-बैठे रहो मन से तुम दृढ़ाय।
मानसपूजन करते रहो, पीछे ध्यान लगाय।।
पाँच बजे से सात तक कभी अभ्यास न छोड़।
जीवन में आ जायेगा अद्भुत तेरे मोड़।।
सात बजे से आठ तक जीवन तत्व को साध।
इस के नित्य अभ्यास से रहे न कोई व्याध।।
छः माह के अभ्यास से एक ज्योति जगमगाय।
साधक मस्ती में रहे जो शिव लोक ले जाय।।
अन्तर में गुरुदेव जी, प्रकट जब हो जाय।
साधक को पथ में निष्कण्टक ले जाय।।
नाम प्रभु का जपते रहो, करते रहो सब काम।
आरती पूजन फिर करो, जब हो जाती है शाम।।
भोग लगा भोजन करो, मान प्रभु प्रसाद।
नौ बजे शयन करो, धर कर प्रभु का ध्यान।
पौने चार उठ पड़ो, यही साधक का संविधान।।

* * *

दान

ब्र० मोहन स्वरूप उपाध्याय

जीवन मे दान का बहुत बड़ा महत्व है। हमारे ऋषि मुनियो, आचार्यों तथा समाज के नियम निर्धारकों ने जीवन के हर कार्य को यज्ञ माना और उसके साथ दान को अनिवार्य रूप से जोड़ दिया। जैसे अन्न दान, गऊदान, कन्या दान, वाग्दान, विद्यादान, जीवनदान, नामदान आदि। आज के युग में भी दान की महत्ता दर्शाते हुए नेता के प्रति अपनी राय प्रकट करने को मतदान नाम दिया गया। अतः यथा शक्ति मनुष्य को दान करना परम आवश्यक बतलाया गया है।

इसी संदर्भ में हमारे पुराणो में एक आख्यान आता है कि देवता राक्षस एवं मनुष्य तीनों ब्रह्मा जी के पास गये और पूछा प्रभु हम तीनों को क्या करना आवश्यक है तो ब्रह्मा जी ने तीनों के लिए द अक्षर का प्रयोग करने को कहा। इसका अभिप्राय था कि देवताओं को दमन (इन्द्रिय दमन) राक्षसों को दया और मनुष्य को दान करना परम आवश्यक कर्तव्य है।

अब हमें यह विचार करना है कि मनुष्य को किस दान से उत्तरोत्तर पुण्य की प्राप्ति होती है क्योंकि हमारी मानव देह पुण्य और पाप को भोगती हुई पुण्य या पाप अर्जित करती रहती है। हम पवित्र कार्य इसलिए करते है कि हमें पुण्यों की प्राप्ति हो और हम सद्‌गति प्राप्त करें। इसी हेतु मनुष्य कुछ न कुछ दान करता ही रहता है। हमारे से दान चाहे कन्यादान हो या अन्नदान सभी पवित्र दान है। किन्तु इन सब दानों में महत्वपूर्ण अक्षय पुण्य प्राप्ति हेतु विद्यादान ही एक महान दान है क्योंकि अन्नदान भूखे की भूख मिटा देता है किन्तु निरन्तर और नित्य लगने वाली भूख इससे नही मिटेगी भूखे को बार-बार दान प्राप्ति की आशा लगी रहीं है इसी प्रकार जीवनदान, गऊदान भी अपनी-अपनी विशेष महत्ता रखते है किन्तु विद्यादान वह दान है जिसके लिए वेदों में प्रार्थना की गयी है कि-

तमसो माँ ज्योर्तिगमय।

हे परमात्मा तू हमें अन्धेरे से प्रकाश की ओर ले चल अर्थात् अविद्या से विद्या की ओर ले चल चाहे हम लौकिक विद्या की कामना करें या उदयात्म विद्या की। जो मनुष्य का परम लक्ष्य भी है।

तो आइये पहले हम लौकिक विद्या के दान पर ही विचार करें। यदि हम किसी एक बच्चे को अन्नदान वस्त्रदान आदि न भी कराते हुए उसे विद्यादान देते या दिलाने की व्यवस्था करते है तो वह अपने पैरों पर खड़ा होकर यदि गृहस्थी बना तो कम से कम अपने चार छः सदस्यों के साथ परिवार का पालन करेगा, इससे प्रातः सायं वह जो चार छः व्यक्तियों को भोजन वस्त्र और विद्या दिलाने का प्रयत्न करेगा, तो समझो वह उस विद्यादान देने या दिलाने वाले का यज्ञ चल रहा है। एक विद्यादान करने या कराने वाले का पुण्य निरन्तर बढ़ रहा है, क्योंकि यह पौधा जो अपने फल से अन्यों की सेवा कर रहा है यह विद्यादाता का ही श्रेय है इसलिए हमें अन्य दान भी समय-समय पर करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि हम किसी पात्र विद्यार्थी की सहायता अवश्य करें मेरे विचार से इससे अच्छा लोक में पुण्य वृद्धि का और कोई उपाय नहीं।

हाँ यदि इससे भी आगे बढ़कर हम किसी का आत्मउत्थान कर उसे अध्यात्म में पहुँचाने का प्रयत्न करते है और हम में वह वास्तव में क्षमता है तो इस से तो बढ़कर तीन लोक में पुण्य वृद्धि का पवित्रकार्य और है ही नहीं। यदि हम किसी को नामदान देकर उसकी आत्मा का उत्कर्ष करते है तो वह वास्तव में अपना लोक प्लोक ही नहीं सुधारेगा बल्कि अन्य अनेकों का उद्धार कर देने योग्य बन सकेगा। अतः मनुष्य को अन्य दानों के साथ-साथ विद्यादान पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मन की एकाग्रता ही ब्रह्माण्ड पर शासन करती है। दर्शन का सार यही है। प्राण, ध्यान और मन का अटूट संबंध है। प्राण की गति ध्यान के साथ होती है। साधक हृदय में ध्यान करे तो प्राण कंठ के नीचे जाने लगता है। जब प्राण हृदय की ओर बढ़ता है, तो सिर को नीचे की ओर प्राण ही झुका देता है। हृदय के आकाश में मन स्थिर होने से, प्राण सूक्ष्म होकर संपूर्ण शरीर की विषमता दूर कर देता है। प्राण सूक्ष्म गति से नासिका में चलने लगता है। प्राण की गति में भी मधुर आनंद प्रतीत होता है। प्राण सात्विक, सूक्ष्म और प्रकाशयुक्त हो जाता है। शरीर को स्वस्थ रखने वाला यह प्राण ही है। यही प्राण, मन ब्रह्मामृत का पान कराता है। साधक जहाँ पर मन को रोकता है, प्राण भी वहीं रुकने लगता है।

--डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

योग की परम्परा

जनक कुलश्रेष्ठ

भारतीय वाङ्मय के प्रमुख छै दर्शनों में योगदर्शन प्राचीनतम दर्शन है। योग समस्त सम्प्रदायों और मतमतान्तरों के पक्षपात और वाद-विवाद रहित सार्वभौम दर्शन है, जो तत्व का ज्ञान स्वयं के अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है।

अव्यक्त एवं अलिङ्ग मूल प्रकृति के तीनों गुणों-सत, रज और तम में ब्रह्म के संकल्प से जब क्षोभ उत्पन्न हुआ तब लिङ्ग रूप में सृष्टि के आदि पुरुष भगवान हिरण्यगर्भ प्रगट हुए, जो समस्त भूतों के एकमात्र पति थे। उन्होंने तीनों लोकों को धारण किया। यही भगवान हिरण्यगर्भ योग के प्रथम वक्ता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में इसका उल्लेख आया है कि-

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातनः

महाभारत भी इस बात की पुष्टि करता है कि आज से लगभग 1,96,12,80,000 वर्ष पूर्व भगवान हिरण्यगर्भ ने योग का उपदेश अपनी प्रजा को दिया-

सांख्यस्य वक्ता किपिलः परमर्षि सः उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातनः।।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।

ब्रह्मा के एक दिन में 14 मनु का काल होता है। एक मनु के काल को मन्वन्तर कहते हैं। वर्तमान सर्ग में (1) स्वायंभू मनु (2) स्वारोचिष (3) औत्तम (4) तामस (5) रैवत और (6) चाक्षुष मनु हो चुके हैं। वर्तमान में मनु के पद पर वैवस्वत आसीन है। वैवस्वत मन्वनतर की 27 चतुर्युगी अभी तक व्यतीत हो चुकी है। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के तीन युग-सतयुग, त्रेतायुग और द्वापुर- बीत कर कलियुग के 5097 वर्ष व्यतीत हो चुके है।

भगवान विष्णु ने वर्तमान मन्वन्तर के प्रारम्भ में सूर्यवंश के अधिष्ठाता एवं प्रथम पुरुष विवास्वान (सूर्य) को इस लुप्त हुए योग का 1,20,533096 वर्ष पूर्व पुनः उपदेश दिया। इसी सूर्य वंश की 64वीं पीढ़ी में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम इस धरा पर

अवतरित हुआ।

विवस्वान (सूर्य) ने अपने पुत्र श्राद्धदेव, जो वैवस्वत मनु के नाम से सातवें मनु के पद पर प्रतिष्ठित हुए, को इस योग के रहस्य को बताया था। वैवस्वत मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से इस योग का कथन किया।

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए मौखिक रूप से उपदेशित किए जाने वाले इस योग का सैद्धान्तिक स्वरूप चाक्षुक मन्वन्तर में कपिल मुनि ने स्थापित किया तथा भगवान पातञ्जलि ने इस योग को समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद चार पादों में विभक्त करके क्रियात्मक स्वरूप प्रदान किया।

उपर्युक्त योगदर्शन सूत्रात्मक होने से सामान्य जन की समझ से परे होने के कारण ब्रह्मसूत्रकार महर्षि व्यास जी ने इस पर भाष्य लिखा; किन्तु व्यास भाष्य स्वयं बहुत ही गूढ़ है। उसके अर्थ को समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने तत्व वैशारदी और विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक की रचनाएँ की है।

एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स काजेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।

इस योगविद्या को सर्व प्रथम राजर्षियों ने जाना। उस समय के सभी राजर्षि ग्रहस्थ थे। इस प्रकार यह योग विद्या ग्रहस्थों की विद्या है। उपनिषदों में इसके अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। छान्दोग्योपनिषद के पाँचवें अध्याय में छै ऋषियों ने तत्कालीन राजा अश्वपति से तथा राजा जनक से श्री शुकदेव जी ने इस योग विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी।

"स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप" के अनुसार कालान्तर में लुप्त हुए इस योग का हमारे दादा गुरू महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने पुनरुत्थान किया। उन्होंने जीवों के कल्याण हेतु इस योग में तीन बातों का समावेश किया। (1) शक्तिपात द्वारा साधक को समाधिस्थ करना (2) हठयोग के जटिल आसनों के स्थान पर 'जीवन तत्व साधन' के नाम से सरलतम आसनों का प्रचलन करना। (3) आसनों द्वारा साध्य और असाध्य जटिल रोगों की चिकित्सा करना।

तदुपरान्त श्री प्रभुजी के शिष्य श्री मुलखराज जी और प्रभु जी के अनन्य प्रिय शिष्य श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने इस योग विद्या का प्रचार व प्रसार किया। श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक इस योग का प्रचार किया।

स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने 'पातंजलि योग प्रदीप' के द्वारा योग दर्शन के सूत्रों को व्यास भाष्य तथा योगवार्तिकी के उदाहरणों द्वारा पाठकों को समझाने का प्रयत्न किया है; परन्तु इसकी भाषा भी कहीं-कहीं पर अति क्लिष्ठ होने से सूत्र का अर्थ साधारण

पाठक की समझ से परे हो जाता है। हमारे पूज्यपाद योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने अत्यन्त सरल एवं बोलचाल की भाषा में उपयुक्त उदाहरणों के द्वारा योग दर्शन के दुरूह रहस्यों को समझाने के लिए 'योग सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया है, जिसको पढ़ते-पढ़ते ही साधक ध्यान की स्थिति में आ जाता है- ऐसा मैंने स्वयं प्रत्यक्ष देखा है।

संसारी व्यक्तियों के माता-पिता, भ्राता, चाचा पति आदि अनेक सम्बन्धी होते हैं। इस समस्त सम्बन्धों में पिता और पति का सम्बन्ध सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। पिता का सम्बन्ध भी अपने पुत्र के साथ उसके वयस्क होने के पश्चात ढीला पड़ जाता है। पति का सम्बन्ध ही एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका भाव प्रेमी के अन्तिम क्षण तक बना रहता है। इस सम्बन्ध में पूर्ण समर्पण का भाव विद्यमान रहता है। वेदों में भी इस सम्बन्ध की महिमा की पुष्टि की है।

हिरण्यगर्भः समवर्तग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

अर्थात्- भगवान हिरण्यगर्भ ही प्राणिमात्र के एक पति थे। समस्त प्राणियों में उनके प्रति समर्पण भाव था। इसी कारण पूर्वकाल के प्राणी दुखी नहीं होते थे। सदैव अपने पतिदेव के चिन्तन में संलग्न रहा करते थे। यही कारण है कि मीराबाई ने इसी सम्बन्ध को अधिक महत्व दिया और अपने मोक्ष मार्ग का सम्बल माना।

'जाके शिर मोर मुकुट मेरो पति सोई'

हमारे पूज्यपाद श्री गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात जिसने इस सम्बन्ध को स्वीकार किया हो उसी को गुरुदेव अपनी समस्त यौगिक शक्तियाँ प्रदान कर गए होंगे अभी वह साधक पूर्ण प्रकाश में नहीं आया है। कारण है-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृताः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम।।

इसी समर्पण की भावना को ध्यान में रखकर स्वतंत्र भारत में संविधान निर्माताओं ने भारत के सर्वोच्च पदाधिकारी के पद का नाम 'राष्ट्रपति' रखा है। यदि भारत के प्रत्येक नागरिक में इसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना होती तो आज भारतवर्ष प्राचीन काल की भाँति अपने गौरव के सर्वोच्च शिखर पर होता।

***

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(ऋषिकेश से तीन कोस आगे श्री ब्रह्मपुरी का सुरम्य वन। इस वन में माँ श्री भगीरथी गंगा के पावन तट पर योगिराज जी का परम दिव्य एवं शान्त आश्रम। योगिराज जी नित्य शाम ६ बजे अपनी समाधि से उठते हैं। मध्य में स्थित योगिराज जी के पर्ण कुटी के चारों ओर साधकों के पाँच-सात कुटियायें। शाम ५ बजे से ही आश्रम के अन्तेवासी शिष्य मिलकर समवेत स्वर में श्रीकृष्ण के मधुर नाम का मध्य स्वर से संकीर्तन करते हैं। आसपास तथा दूर-दूर से भक्त एवं आर्तजन योगिराज के दर्शन एवं कृपालाभ के लिये इसी समय एकत्रित होते हैं। योगिराज जी शाम के ठीक ६ बजे अपनी पर्ण कुटी से बाहर निकलते हैं। सभी को यथोचित आशीर्वाद देकर अपनी आराम कुर्सी पर विराज जाते हैं। सांसारिक कामनाओं से आये आर्त एवं कृपाकांक्षी जन अपनी व्यथाओं को सुनाते हैं एवं कृपा प्रसाद पाते हैं। इसके पश्चात यौगिक सत्संग का क्रम चलता है। साधक एवं शिष्य अपने योग विषयक संशयों को उनके सम्मुख रखते हैं। इसी श्रृंखला में एक जिज्ञासु शिष्य गुरुदेव से पूछता है।)

शिष्य–गुरुदेव ! आजकल अनेक स्थानों पर आश्रमों में कुण्डलिनी जागरण एवं शक्तिपात केन्द्र के बोर्ड लगे है। आप कृपाकर बताये कि यह शक्तिपात क्या है और कैसे किया जाता है।

योगिराज–सौम्य ! यह तुमने अच्छा प्रश्न किया है। मै तुम्हे शक्तिपात सम्बन्धी कुछ बातें बतलाता हूँ। देखो। हमारा मन चेतना का अधिष्ठान स्थल है। इसके माध्यम से यह चेतना शक्ति इन्द्रियो के द्वारो से बाहर निकला करती है। मन के राग-द्वेषादि से युक्त रहने के कारण यह क्षण-क्षण विचलित होता रहता है। राग द्वेषादि का परिणाम उसे सुख और दुःख के रूप मे मिलता है। यही भोग कहलाता है। इससे हम उस चेतना शक्ति को क्षीण बनाते रहते है। यदि मनुष्य अपने मन को ध्यान योग की विधि से एकाग्र करना सीख लेता है, वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना लेता तो उसकी यह शक्ति विकसित होती चली जाती है। शक्ति संचय का एकमात्र ठोस उपाय ध्यान योग है। इसके सहयोगी अंग के रूप मे स्वाध्याय, गुरुदेव की सेवा, ईश्वर प्राणिधान एवं दैवी सम्पत्ति का अर्जन आदि हो सकते है। शक्तिपात वस्तुतः संकल्प शक्ति का विषय है कोई बाह्य क्रिया नही है। यह शक्ति संचार की प्रक्रिया तभी संभव होती है जब शिष्य और गुरुदेव का मन एक दूसरे के प्रति पूर्णतया छलछला जाये। शिष्य के प्राण गुरुदेव पर हर क्षण न्यौछावर रहते हो तथा गुरुदेव का मन भी शिष्य के प्रति करुणा से भरा रहता हो ऐसी अवस्था मे शक्तिमान गुरुदेव की शक्ति स्वयमेव शिष्य मे संचारित होती रहती है। सिद्धयोगी गुरु अपने शिष्यों पर शक्तिपात करता ही रहता है। योग शास्त्र मे कई प्रकार की शक्तिपात का उल्लेख मिलता है इस शक्तिपात को दीक्षा भी कहते है। जब गुरुदेव मन से शिष्य

के उत्थान करने का संकल्प करता है अथवा हृदय से प्यार करता है तो इसे संकल्प दीक्षा, हार्द दीक्षा, मानस दीक्षा अथवा शांभरी दीक्षा कहते है। जब अत्यधिक स्नेह से शिष्य को देखते हैं तो वह दृग दीक्षा कहलाता है। इसी प्रकार से वाग्दीक्षा एवं स्पर्श दीक्षा आदि-आदि दीक्षाओं के प्रकार है। जिसमे गुरुदेव अपने शिष्य पर शक्ति का संचार करता रहता है।

शिष्य-गुरुदेव ! क्या एक बार के शक्तिपात से ही शिष्य का परम कल्याण सिद्ध हो जाता है ?

योगिराज-चिरंजीव ! इस बात को तुम सब ठीक प्रकार से समझ लो। यदि गुरुदेव सर्व समर्थ सिद्ध है और शिष्य भी परम उत्कृष्ट संस्कारी व अधिकारी है तो गुरुदेव का एक बार का तीव्र शक्तिपात ही उसके कल्याण का कारण बन जाया करता है। किन्तु यदि शिष्य उत्कृष्ट अधिकारी न हो तो उस पर समय-समय पर उसके बलाबल को देखकर गुरुदेव शक्तिपात करते रहते है। जितना-जितना वह अधिकारी बनता चला जाता है गुरुदेव उस पर शक्ति संचार करते रहते है। इसमे एक बात और भी समझने की होती है वह यह है कि यदि शिष्य अपनी मानसिक शक्ति का दुरुपयोग करता है अथवा अभिमान घेर लेता है तो गुरुदेव उसकी इसको खींच कर वापिस ले लिया करते है।

शिष्य-गुरुदेव ! क्या एक साधारण मनुष्य भी दूसरे पर शक्तिपात कर सकता है?

योगिराज-वत्स! मैंने तुम्हे पहले ही बता दिया है कि हर मनुष्य का मन शक्तियों का केन्द्र है। एक व्यक्ति समाज मे साधारण माना जाता है। किन्तु यदि वह भगवद्भक्त है सब प्राणियो के प्रति दयाभाव है अपने मन को राग-द्वेष से निर्लिप्त रखता है, मन के संतुलन को बिगाड़ने नही देता, ऐसे व्यक्ति मे भी मानस शक्ति होती है। कुछ ऐसे भी मनुष्य होते है जो इस जन्म मे साधारण घर-गृहस्थ मे रहने वाले है किन्तु जो पूर्व जन्म मे योग साधक रह चुके होते है। ऐसे व्यक्ति साधारण दिखते हुये भी शक्ति सम्पन्न होते है। ऐसा व्यक्ति यदि अपने इष्टमित्र का अथवा किसी प्रिय जन के लिये मंगल कामना करता है तो उसकी शक्ति के कारण उन व्यक्तियो की अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जब मानस शक्ति वाला कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे का चिन्तन करता है। तो उसकी मानसिक शक्ति का संक्रमण हो जाता है। और उस संक्रमित मन पर उसका प्रभाव होता है। मानस शक्ति के अनुपात भेद से कार्य सिद्धि मे लाभालाभ रहा करता है। हमारे आर्ष समाज मे छोटे व्यक्ति अपने बड़ो का चरण स्पर्श कर अभिवादन करते है वृद्धजन अथवा गुरुजन छोटो के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते है। यह एक प्रकार से शक्तिपात का ही रूपक है। एक माँ अपने शिशु पर अगाध स्नेह करती है। वह भी अपनी मानसिक शक्ति का संचार करती है। इसी प्रकार से हर मनुष्य अपने मानस स्तर के अनुसार शक्ति प्रक्षेप करता है और इस प्रकार से उसकी वह शक्ति क्षीण होती रहती है। योगी शक्ति का अतुलित भंडार रखता है अतः वह कभी खाली नही हो सकता। आत्मलाभ करने पर उसके पास अक्षय शक्ति रहती है।

मन और माया

डा० विजय सिंह

सद्गुरु से शक्तिपातित होकर भी साधकों की अन्तरभूमियाँ क्यों भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यह प्रश्न कई बार मन में उठता रहा है। अन्तःकरण के परिष्करण का भेद ही इस प्रश्न का समीचीन समाधान है। श्री गुरुदेव भगवान कहते थे पूर्व जन्मों में किया गया साधना व्यर्थ नहीं जाता उसका प्रभाव भावी जन्मों पर पड़ता है। साधक का मन कैसा है ? किस प्रकार के संकल्पों-विकल्पों में उलझा रहता है। इस बात पर ही साधनानुभूति की गहराई निर्भर करती है। पुरातन आख्यानों से भी स्पष्ट होता है कि निश्छल मन में, सत्य-संकल्पी मन में सहज ही ब्रह्म तत्व का बोध होता है। कठोपनिषद् का नचिकेता पिता के पाखण्ड-पूर्ण दान से आहत हो जब उनसे बार-बार कहता है-जा तुम्हें यम को देता हूँ। यम के तमाम दिये प्रलोभनों को ठुकराता हुआ बालक नचिकेता-ब्रह्म विद्या, आत्म तत्व ज्ञान, मृत्यु क्या है ? जैसे मौलिक प्रश्नों का समाधान चाहता है। यमराज ने ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है-

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छत्।।

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयों को देखता है, आत्मा को नहीं। कोई धीर पुरुष जिसने अपनी इन्द्रियों के वासनात्मक वेग को रोक लिया है वही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

इन्द्रिय जनित तमाम जागतिक वासनाओं का संघात मन पर पड़ता रहता है। मन उन संघातों से संकल्प:विकल्पों में घिर उठता है। यह संकल्प-विकल्प ही व्यष्टिगत माया है। माया अविद्या है। संघातहीन संकल्पों-विकल्पों से शून्य मन की अवस्था ही आत्मबोध की अवस्था बन जाती है। बहुत से दर्शनकारों ने माया को मिथ्या व भ्रम की अवस्था बताया है। थोड़ा समझने जैसी बात है। हमारी बहिर्मुखी इन्द्रियों पर पञ्चमहाभूत एवम् उनकी तन्मात्राओं का पड़ने वाला संघात जो सामूहिक अथवा ऐकिक रूप में मन को चलायमान किये रहता है, यही प्रपञ्च बोध है। इन संघातों से मुक्त मन ब्रह्म बोध से उद्भाषित हो उठता है। यह कार्य कुछ ऐसा ही है जैसा प्रकाश के न रहने पर अपने आप अन्धकार का हो जाना। प्रकाश विधेयक तत्व है इसका निषेध अन्धकार है। अन्धकार स्वयं में कुछ होते हुए भी नहीं है। क्योंकि प्रकाश की क्षीणता तथा उत्तरोत्तर ह्रास ही अन्धकार को जन्म देता है। ठीक इसी प्रकार मन की निरुद्धता (ऐन्द्रिक संघातों से मुक्त) ब्रह्म बोध को दर्शाता है परन्तु मन के चलायमान होते ही ब्रह्म बोध क्षीण होते हुए जागतिक बोध को प्रगाढ़ कर देता है। यमराज नचिकेता से कहते है-

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति।।

अर्थात्-नचिकेत, आत्म तत्व मन से ही प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्म तत्व में नाना कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानत्व देखते हैं वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है।

कैसी खरी बात बताई गई है। मन से ही ब्रह्म तत्व का बोध होना। एक तत्व आत्मा का प्रकाशित होना। नानत्व रूप माया के अन्धकार का तत्काल तिरोधान। अगर ऐसा नहीं है अभी नानत्व का बोध स्थूल अथवा सूक्ष्म या कारण में हो रहा है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है और फिर जन्म भी। चक्कर चलते रहना है तब तक जब तक मन पूर्ण निरोध में आत्मलीन नहीं हो जाता।

परमकरुणार्णव सद्गुरु भगवान हम सभी को बराबर प्रकाशार्जन करते रहने को प्रोत्साहित करते रहते थे। उठते-बैठते, चलते फिरते मन्त्र जाप। अनन्यभावेन सद्गुरु चरण चिन्तन। ध्यान तत्परायणता। यह सब मन को सत् से भर देने का साधन है। सत्-तत्व प्रकाश है। इसी का आत्यान्तिक अभाव माया है।

जागतिक पाठशाला का मुँह भी नहीं देखा हुआ परन्तु आन्तरिक जगत का सम्राट अक्खड़ सन्त कबीर ने बड़ी बेलाग वाणी में मन और माया का बोध कराया है। वे कहते हैं-

मन माया तो एक है, माया मनहि समाय।
तीन लोक संशय पड़ा, काहि कहूँ समझाय।।

मन का बर्हि विकास ही माया है। मन का विषयों से संयुक्त अवस्था का ही नाम माया है। सीधे सोचें तो मन की असंगत दशा ही माया है। माया नष्ट करना नहीं पड़ता। मन को संसार से विरत करने से कबीर कहते हैं यह माया संगत मन होते ही मन में ही खो जाता है। बहिर्मुखता ज्यों-ज्यों घटती है साधक का मन स्थिर होता है, और माया भी उतनी ही मात्रा में विलुप्त होती जाती है। ऋतम्भरा, प्रज्ञा अथवा विवेकख्याति की ओर बढ़ते ही मन का संगत-भाव जाग्रत होकर माया को अपने में ही समेट लेता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे घने अन्धकार से युक्त कमरे में बल्ब जलते ही अन्धकार का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः सन्त कबीर कहते हैं सारा संसार माया के और ब्रह्म के निरूपण में नये-नये दर्शन गढ़ रहा है। बड़े ही संशय में पड़ा है किसको-किसको समझाऊँ कोई द्वैत वाद, कोई विशिष्टा द्वैत तो कोई एकेश्वर वाद आदि-आदि के पचड़े में पड़ा है। माया है या नहीं, ब्रह्म है या नहीं। इन प्रश्नों पर पढ़े गूढ़ चिन्तन-मन्थन चल रहे हैं। परन्तु कबीर का आँखन देखा आत्मानुभव कहता है, मन के अन्दर विवेक जागने पर यह माया मन में ही समा जाती है। मन दो नहीं है। मन का तरंगित, डोलायमान होना ही माया है। जब मन स्थिर होगा तो माया तिरोहित हो जायेगी। इसलिए परम प्रभु सर्दव अपने बालकों को दैवी सम्पदा के विकास हेतु साधन रत रहने का उपदेश करते थे।

मन का एक छोर माया का विस्तार है तो दूसरा छोर ब्रह्म आत्म बोध में जाकर समाप्त हो रहा है। हमें मन को ध्यान, समाधि द्वारा इस छोर का गहनतम बोध प्राप्त करना ही अभीष्ट है। इसीलिये बड़े बेवाक ढंग से कबीर कहते है-

मन सागर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाचि हैं, जिनके हृदय विवेक।।

मन की उपमा शान्त सागर से ब्रह्म के रूप में कबीर दे रहे हैं और माया उत्ताल लहरों से संयुक्त सागर जो दानवाकार लहरों के रूप में ही अभी पहचाना जा रहा है माया है। कबीर का कथन है विवेक की आँख से ही यह जाना जा सकता है। यह विवेक रूपी आँख मात्र सद्गुरु कृपा से ही साधक को प्राप्त होती है।

चक्षुर उन्मीलितयेन् तस्मै श्री गुरुवे नमः।

कबीर एक बात और मर्म की बतलाते है-

जो मन राखै जतन करि, तो आपै करता सोई।

अर्थात्-मन को जो उसकी स्वस्थ स्थिति में पहुँचा लेता है अर्थात् हिंसित अवस्था से मोड़कर निरुद्ध उन्मनी अवस्था को पहुँचाता है वही ईश्वर हो जाता है।

अतः निष्कर्षतः मन ही माया और मन ही ब्रह्म है। मन ही एक छोर पर संघात् पीड़ित हो माया का बोध कराता है। वही मन शान्त होकर समाधि में, आत्मा विसर्जित हो उठता है।

सन्त कबीर की वाणी साधक को सावधान करती है। यदि साधक हो तो ग्रन्थों के चक्कर को छोड़कर मन की ग्रन्थियों को पढ़ो, निरखो। जिन्हें पूर्ण गुरुदेव मिल गये है, जिन्हें अन्तर्बोध होने लगा है, उसे सावधान रहना है-

गुरु मानुष करि जानते, ते नरि कहिए अन्ध।
महा दुःखी संसार में, आगे जम के बन्ध।।

सन्त कबीर कहते है अरे तुम्हें जिसने अन्तर्मन का बोध कराया है वह मनुष्य कैसे हो सकता है। सद्गुरु स्वयं ब्रह्म है अतः उनके अनुशासन में रहकर जीवन-मरण के चक्र को सुलझा लेना चाहिए नही तो यमराज का दण्ड तो साथ लगा ही है। जैसा नचिकेता को उपदेश करते हुए स्वयं गुरु रूप यम कहते है- जिसने मन को समझकर धीरपूर्वक आत्मदर्शन रूप एकतत्व का बोध कर लिया वही हमारे पाश से मुक्त हो जाता है। अस्तु इन परम करुणार्णव श्री प्रभुजी के अमृत वचनों एवम् आदेशों का मन में स्फुरण करते हुए हम सभी को निन्दा स्तुति से ऊपर उठकर श्रेय की ओर बढ़ते ही जाना है। वे परम कृपालु हमें शक्ति सामर्थ्य प्रदान करते ही है।

***

भलाई का रास्ता

विष्णु प्रसाद व्यास (बीना)

अपने मन को मालिक के सच्चे प्रेम के रंग में रंगना चाहते हो तो पहले उस पर चढ़ी हुई मोह-ममता-रूपी मैल को सत्संग के सरोवर में जाकर धो डालो।

यह आम नियम है कि जिस कपड़े पर रंग चढ़ाना हो तो उसे पहले धोया जाता है। यदि कपड़ा कोरा है तो उसका कोरापन भी धोकर हटाया जाता है तब उस पर रंग चढ़ता और निखरता है। यदि अपने मन रूपी कपड़े को ईश्वर के सच्चे प्रेम और नाम के रंग में रंगना चाहते हो तो पहले उस पर पड़े हुए झूठ, छल, कपट आदि के धब्बों को सत्संग के निर्मल जल से धो डालो तो फिर उस पर ऐसा सुन्दर और पक्का रंग चढ़ेगा जो कभी उतरेगा नहीं। पलटू साहिब का वचन है:-

।। कुण्डली ।।

धुबिया फिर मर जायेगा, चादर लीजे धोय।
चादर लीजे धोय, मैल है बहुत समानी।
चल सत्गुरु के घाट, भरा जहाँ निर्मल पानी।।
चादर भई पुरानी, दिनों दिन बार न कीजै।
सत्संगत में सौंदि, ज्ञान का साबुन दीजै।।
छूटे कलिमल दाग, नाम का कलप लगावै।
चलिये चादर ओढ़ि, बहुर नहिं भव जल आवै।।
पलटू ऐसा कीजिये, मन नहिं मैला होय।
धुबिया फिर मर जायेगा, चादर लीजे धोय।।

सन्त सत्पुरुष उपदेश करते हैं कि ऐ जीव रूपी धोबी तू आलस्य और असावधानी को छोड़कर मन रूपी चादर को धोने का शीघ्रातिशीघ्र यत्न कर क्योंकि जीवन का कोई भरोसा नहीं है। मन रूपी चादर पर जन्म-जन्म की मैल चढ़ी हुई है और उस मैल से मन रूपी चादर खूब मैला हो चुकी है, उस मैल को साफ करने अर्थात् मन के धोने के लिये निर्मल जल तुम्हें गुरु के घाट अर्थात् सत्संग के सरोवर में ही मिलेगा। अतः अब देरी मत कर; लापरवाही और असावधानी की निद्रा से जाग और शीघ्रता से चादर धोने का यत्न कर, क्योंकि यह चादर दिन-प्रतिदिन पुरानी होती जा रही है। पहले उसे सत्संग के वचनों रूपी जल में डुबोकर भिगो दे, फिर उस पर गुरु-ज्ञान का साबुन रगड़ ताकि उस पर जो कलियुग की मैल (सत्व, रज, तम आदि की मैल) चढ़ गई है, वह धीरे-धीरे उतर जाये तो उस पर नाम का कलफ लगा दे। फिर ऐसी स्वच्छ और चमकीली चादर ओढ़कर जब तू सच्ची दरगाह में जावेगा तो फिर तुझे दुबारा भवसागर में नहीं आना पड़ेगा। ऐसा यत्न करो कि मन रूपी चादर पर मैल चढ़ने ही न पावे क्योंकि मैल के चढ़ने से वह चादर भारी हो जाती है। चूंकि जीवात्मा ने वही चादर ओढ़ रखी है। उस चादर के बोझ से दबकर जीवात्मा के डूबने का भय रहता है।

भाव यह है कि मैला मन ही मनुष्य को भवसागर में डुबोने का कारण बन जाता है, जबकि निर्मल मन जीव को भवसागर से पार उतरने के योग्य बनाता है। इसलिये जीव अपने मन की मैल को धोने का पूरा-पूरा यत्न करे अर्थात् हर प्रकार से मन को उज्जवल करने का यत्न करे।

पृथ्वी से जब पेट्रोल निकलता है तो उसमें मैल भरी रहती है। तब उसको तेल शोधक कारखाने में शुद्ध किया जाता है। यदि उसमें तनिक-सा भी कचरा रह जाये तो वायुयान के गिरने का भय रहता है। इसी प्रकार जैसा कि ऊपर लिखित कथन में कहा गया है, वही मन प्रेम-भक्ति के उच्च मण्डलों की सैर कर सकता है जो शारीरिक मोह-माया के कचरे (मैल) से मुक्त हो चुका है अर्थात् जो सद्गुरु शब्द की रिफायनरी (शोधक कारखाना) में पड़कर शुद्ध और साफ होकर निकला है।

गुरु-नाम के अभ्यास की कमाई किये बिना कई राजा-महाराजा अश्वमेध यज्ञ के पुण्य-प्रताप से, योगी योग-क्रियाओं के बल से इन्द्र की पदवी तक पहुँच जाते हैं। परन्तु चूँकि उनका मन सद्गुरु शब्द की रिफायनरी से निकला हुआ नहीं होता और उसमें वासना भरी हुई होती है। अतएव वह कामादि कचरा उन्हें फिर से नीचे गिरा देता है। ऐसे उदाहरण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ राजा नहुश जो कि इन्द्रलोक में जाकर इन्द्रासन पर बैठ गया था, परन्तु उसके हृदय में इन्द्राणि से मिलने की जिज्ञासा जाग उठी। इसके फलस्वरूप वह अजगर जैसी योनि में जा गिरा।

एक दूसरे राजा के बारे में भी आपने पढ़ा या सुना होगा। कि वह भी इन्द्रलोक में इन्द्र की पदवी पर था, परन्तु गौतम ऋषि की नारी अहिल्या प्राप्ति की इच्छा रूपी मैल ने उसे भी शाप दिलाया। उसके शरीर पर कोढ़ हो गया था और वह महा दुःखी था।

परन्तु जिसके ऊपर सन्त-सद्गुरु का हाथ होता है, वे ऐसे मलिन विचारों से बचे रहते हैं। वे अपने मन को ऐसे मलिन विचारों से मैला नहीं करते। अर्जुन को भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी की चरण-शरण प्राप्त थी और उनकी शुभ संगति के प्रभाव से उनका मन दर्पण की तरह साफ था। एक दिन उर्वशी नामक अप्सरा उनके पास आकर कहने लगी कि मैं आप से आप जैसा पुत्र उत्पन्न करना चाहती हूँ। मेरी आशा को पूर्ण करो वरन् शाप दे दूँगी। परन्तु अर्जुन के मन में तनिक भी मैल नहीं थी, अतएव उसने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया-माता ! मुझको ही अपना पुत्र समझ लो- मैं तुम्हारा पुत्र हूँ और तुम मेरी माता हो। लो ! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो गई। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुई और लौट गई।

ऐसे ही एक बार श्री कबीर साहब के पास आकर लक्ष्मी ने उन्हें भरमाना चाहा, परन्तु वह अपना नाक-कान कटवाकर लौट गई।

रामायण का इतिहास साक्षी है कि लक्ष्मण जी के आगे शरूपनखा की दाल नहीं गली थी। यह सब ईश्वर की शरण में आकर मन को शुद्ध करने का प्रताप है। ऐसे शुद्ध मन वालों के ऊपर ही गुरु प्रेम का रंग चढ़ता है। जिन लोगों के हृदय में विषय-विकारों की मैल भरी रहती है, वे यद्यपि ऊपर से गुरु-प्रेमी बनकर प्रेम का दिखावा करते हैं,

परन्तु वास्तव में वे ढोंगी हैं। एक म्यान में दो खड्ग कैसे समा सकेंगे ? कबीर साहिब जी ने स्पष्ट कहा है-

॥ दोहा ॥

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ हरि को भजे, भक्त कहावै सोय॥

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विपरीत हैं। शरीर असत्य है, आत्मा सत्य। परन्तु मन तो एक ही है, अतएव जिसका मन असत् पदार्थों में फंसा होगा, वह सत्य वस्तु अर्थात् ईश्वर के नाम की ओर कैसे चल सकेगा ?

॥ दोहा ॥

कबीर मन तो एक है, भावै जहाँ लगाय।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय॥

कथा है एक चींटी चावल लेकर जा रही थी। उसे मार्ग में दाल का दाना पड़ा मिल गया है उसने सोचा यह भी ले चलूँ परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी सफल न हो सकी। यह खेल कबीर साहिब ने देखा तो कहा-

चींटी चावल ले चली, बीच में मिल गई दाल।
कहैं कबीर दोऊ न मिलैं, इक से दूजी डाल॥

श्री हनुमान जी ने तो माला के मोतियों को भी यह देखने के लिये कि इनमें भगवान का नाम है अथवा नहीं, तोड़-तोड़ कर फेंक दिया। यद्यपि संसार की दृष्टि में ये अति मूल्यवान और अलभ्य मोती थे।

भक्त ध्रुव ने वह राज्य भी लेने से मना कर दिया जिसके प्राप्त हो जाने पर उसे हर प्रकार के शारीरिक सुख उपलब्ध हो जाते।

ईश्वर की भक्ति के लिये महाराज भर्तृहरि ने रत्न आदि से जड़े हुए राजप्रासाद और सहस्त्रों रानियों का भी प्रसन्नता पूर्वक त्याग कर दिया जबकि संसार में एक स्त्री की इच्छा में कई मनुष्य जान की बाजी लगा देते हैं।

ये जितने उदाहरण दिये गये हैं और इन सब ने जो इतना बड़ा त्याग किया, आखिर कुछ सोच-समझकर ही तो किया। क्योंकि वे अपने-अपने समय में बड़े बुद्धिमान और श्रेष्ठ माने गये हैं और आज तक संसार इन्हें महापुरुष कहकर पुकारता आ रहा है। यही नहीं इनके नाम का सहारा लेकर सहस्त्रों मनुष्य आज भी गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग पर चल रहे हैं। कोई पूछे ऐसा क्यों है ? कारण स्पष्ट है कि इन्होंने सांसारिक कामनाओं का पूर्णरूपेण त्याग किया, अपने मन की चादर पर कोई धब्बा, कोई मैल, कोई मोह-ममता का कचरा नहीं रहने दिया। इससे इनके जीवन प्रकाश पूर्ण हो गये।

इसीलिये श्री गुरुदेव पवित्र वचन द्वारा उपदेश करते हैं कि यदि ईश्वर के सच्चे प्यार का रसपान करना चाहते हो तो उसके लिये सांसारिक रसों के प्यार को पूर्णतया त्याग दो, वरना समय भी नष्ट करोगे और सफलता भी नहीं प्राप्त होगी और अन्त में पछताने और हाथ मलने से कुछ न मिलेगा।

***

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था..........

(चित्तवृत्तिनिरोधः) कहकर प्राचीन संस्कृत शब्द 'योग' की परिभाषा की गयी है। इसका अर्थ यह है कि योग वह विज्ञान है, जो हमें चित्त को परिवर्तनशील अवस्था से निरुद्ध कर उसे वश में करने की शिक्षा देता है। चित्त वह वस्तु है, जिससे हमारे मन का निर्माण होता है और जो निरन्तर बाह्य तथा आन्तरिक प्रभावों से प्रमथित होकर (संकल्प-विकल्प की) तरंगे उछालता रहता है योग हमें सिखाता है कि मन का किस प्रकार नियमन किया जाय, जिससे वह सन्तुलन खोकर तरंगित न होने पाये।.......

इसका अर्थ क्या है ? धर्म के विद्यार्थी के लिए ९९ प्रतिशत धार्मिक ग्रन्थ और विचार केवल अटकलबाजी है। एक मनुष्य सोचता है कि धर्म यह है, तो दूसरा सोचता है कि धर्म वह है। अगर एक व्यक्ति दूसरे से अधिक चतुर हुआ, तो वह दूसरे के अटकलों का खण्डन कर देता है और नये का सूत्रपात करता है। पिछले दो हजार, चार हजार वर्षों से–ठीक कितने काल से, किसी को ज्ञात नहीं– लोग नयी नयी धर्म-व्यवस्थाओं का अध्ययन करते आ रहे हैं।... जब वे तर्कों से समाधान नहीं कर पाते, तो कहते हैं, "विश्वास करो।" यदि वे शक्तिशाली हुए, तो अपना विश्वास उन्होंने बलात् लादा। आज भी ऐसा हो रहा है।

लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो पाते। वे पूछते हैं, "क्या निस्तार का कोई मार्ग नहीं है ?" भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित में तो तुम इस प्रकार की अटकलबाजी नहीं करते। फिर क्या धर्म-विज्ञान इतर विज्ञानों की भाँति नहीं हो सकता ? उन्होंने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया– यदि वास्तव में मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व है, यदि वह अमर है, यदि सचमुच ईश्वर की सत्ता है और वह जगत् का शास्ता है, तो उसका (बोध) यहीं होना चाहिए और यह सब (बोध तुम्हारी ही) अन्तश्चेतना में होना चाहिए।

मन का विश्लेषण किसी बाहरी यन्त्र से नहीं किया जा सकता। मान लो, जब मैं विचार कर रहा हूँ, तब तुम मेरे मस्तिष्क को देख रहे हो। उस समय तुमको उसमें कुछ अणुओं का परस्पर विनिमय मात्र दिखायी देगा। तुम विचार, चेतना, मनोभाव और मानस-प्रतिमाओं को नहीं देख सकते। तुम केवल कम्पनों की राशि देखोगे– रासायनिक और भौतिक परिवर्तन। इस दृष्टान्त से हम देखते हैं कि इस प्रकार के विश्लेषण से काम नहीं चलेगा।

मन के रूप में मन के विश्लेषण का क्या कोई और तरीका है ? यदि कोई तरीका है, तो सच्चा धर्म-विज्ञान सम्भव है। राजयोग के विज्ञान का दावा है कि इस प्रकार की सम्भावना है। हम सब इसका अभ्यास कर सकते हैं और कुछ अंश तक सफल हो भी सकते हैं। एक बड़ी कठिनाई यह है–इन्द्रियगोचर विज्ञान में विषय-वस्तु को (देखना अपेक्षाकृत सरल होता है)। विश्लेषण के उपकरण भी सुनिश्चित होते हैं और दोनों ही स्थूल होते हैं। परन्तु मन के विश्लेषण में साधन और साध्य, दोनों एक ही होते हैं। ...कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं।.......

बाहरी विश्लेषण मस्तिष्क तक पहुँचेगा, तो उससे पता लगेगा कि भौतिक और रासायनिक परिवर्तन क्या हुए। इससे (प्रश्न का हल निकालने में) कभी सफलता नहीं मिलेगी। यह

चेतना क्या है ? तुम्हारी कल्पना क्या है ? तुममें कहाँ से संकल्पों की यह विपुल राशि आती है और फिर कहाँ चली जाती है ? हम उन्हें अस्वीकार तो नहीं कर सकते। वे तथ्य हैं। मैंने कभी अपना मस्तिष्क नहीं देखा। मुझे निश्चय मानना पड़ेगा कि मेरे मस्तिष्क है। परन्तु आदमी अपनी चेतन कल्पनाओं को कभी अस्वीकार नहीं कर सकता।

बड़ी समस्या हम लोग स्वयं हैं। क्या मैं एक ऐसी लम्बी शृंखला हूँ, जिसे मैं देख नहीं पाता-एक कड़ी के तत्काल बाद दूसरी कड़ी आती है, परन्तु है वे बिल्कुल असम्बद्ध ? क्या मैं विज्ञान की ऐसी ही (परिवर्तन के सतत प्रवाह की) अवस्था हूँ? या मैं उससे कुछ और अधिक हूँ- सार, सत् जिसे हम आत्मा कहते हैं ? दूसरे शब्दों में, मनुष्य में आत्मा होती है या नहीं ? क्या वह असम्बद्ध विज्ञान की अवस्थाओं की गठरी है या एकीकृत तत्व है ? यह बड़ा ही विवादास्पद है। यदि हम केवल विज्ञानों की गठरी हैं।....... तो अमरत्व जैसा प्रश्न भ्रम मात्र है। .....दूसरी ओर यदि हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो इकाई है, सार है, तब तो मैं अवश्य अमर हूँ। इकाई को नष्ट नहीं किया जा सकता और न उसे खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। विभाजित तो संयुक्त पदार्थ ही किये जा सकते हैं....।

बौद्ध धर्म को छोड़ शेष सभी धर्मों का ऐसे किसी तत्व या द्रव्य में विश्वास है और वे किसी न किसी रूप में इसके लिए संघर्ष भी कर रहे हैं। बौद्ध धर्म ऐसे तत्व को अस्वीकार करता है और उससे पूर्ण सन्तुष्ट है। वह कहता है परमात्मा, आत्मा, अमृत्व आदि विषयक बातें- इस प्रकार के प्रश्नों में माथापच्ची मत करो। किन्तु दुनिया के अन्य सभी धर्म इस सार (तत्व) को अंगीकार करते हैं। उन सबका विश्वास है कि सब परिवर्तनों के बावजूद मानव में आत्मा ही सार है, जगत् में परमेश्वर ही सार है। उन सबका विश्वास है कि आत्मा अमर है। ये सब अनुमान हैं। बौद्धों और ईसाइयों के इस विवाद का निपटारा कौन करे ? ईसाई धर्म कहता है कि एक सार वस्तु है, जो शाश्वत है। ईसाई कहता है, ''मेरी बाइबिल का यह कथन है।''... बौद्ध कहता है, ''आपके ग्रन्थ में मेरा विश्वास नहीं है।''...

प्रश्न यह है कि क्या हम द्रव्य (आत्मा) है, या सूक्ष्म पदार्थ, परिवर्तनशील, तरंगायमान मन है ?... हमारे मन में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। भीतर वह द्रव्य-तत्त्व कहाँ है ? हम उसे पाते नहीं। मैं इस समय कुछ हूँ और फिर और कुछ हो जाता हूँ। यदि एक क्षण के लिए तुम इन परिवर्तनों को बन्द कर दो, तो उस सार-तत्त्व के प्रति मेरा विश्वास हो जायेगा।....

निश्चय ही ईश्वर तथा स्वर्ग सम्बन्धी सभी विश्वास संगठित धर्मों के क्षुद्र विश्वास है। कोई भी वैज्ञानिक धर्म इस तरह की प्रस्तावना कभी नहीं करता।

योग वह विज्ञान है, जो हमें चित्त (मन: पदार्थ) को इन परिवर्तनों में पड़ने से बचना सिखलाता है। मान लो, तुम मन को पूर्ण योगमुक्त अवस्था तक पहुँचाने में सफल हो गये। उस समय तुमने समस्या हल कर ली। तुमको बोध हो गया कि तुम क्या हो? सभी परिवर्तनों पर तुम्हारा प्रभुत्व हो गया। उसके पश्चात् तुम मन को विचरण करने

दो, प अब वह पहले जैसा मन नहीं रह गया। वह पूर्णतया तुम्हारे वश में है। वह उस जंगली घोड़े जैसा नहीं रह गया, जो तुमको पटकता रहता है।......तुमने ईश्वर का दर्शन कर लिया। वह अनुमान का विषय नहीं रह गया। अब वह श्री अमुक नहीं रह गया.... .किसी ग्रन्थ या वेदों की नहीं, धर्मोपदेशकों का वितण्डावाद या वैसी कोई कोई चीज नहीं रही। तुमने स्वयं साक्षात्कार कर लिया-मैं इन परिवर्तनों से परे आत्मा हूँ। मैं परिवर्तन नहीं हूँ, यदि मैं ऐसा होता, तो उन्हें रोक न सकता। मैं परिवर्तनों को रोक सकता हूँ, इसलिए मैं स्वयं परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। योग-विज्ञान की यह आधार पीठिका है।

ये परिवर्तन हमें पसन्द नहीं। परिवर्तनों को हम जरा भी नहीं चाहते। प्रत्येक परिवर्तन हमारे ऊपर बलात् लादा जाता है। हमारे देश में बैल के कन्धों पर जुआ रखा जाता है (जो एक लट्ठे से तेल के कोल्हू में जुड़ा रहता है) जुए के आगे निकले हुए लट्ठे में लटकाने के लिए (घास की पोटली बँधी रहती है), जो इतनी दूरी पर होती है कि बैल वहाँ तक पहुँच नहीं पाता। वह घास खाना चाहता है और थोड़ा आगे बढ़ता है (इस प्रकार कोल्हू घुमाता है)।.... हम लोग इन्हीं बैलों के समान हैं, जो सदैव घास खाने के प्रयत्न में रहते हैं और वहाँ तक पहुँचने के लिए गर्दन बढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार हम चक्कर पर चक्कर लगाते हैं। कोई ऐसे परिवर्तनों को पसन्द नहीं करता। निश्चय ही नहीं।.... ये सभी परिवर्तन हम पर हठात् लादे गये हैं।.... हमारा कोई चारा नहीं। एक बार जब हमने स्वयं अपने को मशीन में डाल दिया, तो हम निरन्तर चक्कर काटते ही रहेंगे। रुकने में आगे चलने की अपेक्षा और अधिक अनिष्ट है।.....

निश्चय ही हमारे ऊपर दुःख आते हैं। और सब दुःख हैं, क्योंकि सब अनिच्छित है। यह सब बेगारी है। प्रकृति आदेश देती है और हम उसका पालन करते हैं, किन्तु प्रकृति और हममें किंचित् भी सद्भाव नहीं है। हमारे सभी कार्यों में प्रकृति से छुटकारा पाने का प्रयास रहता है। हम कहते हैं कि प्रकृति की मौज लूट रहे हैं। यदि हम आत्मविश्लेषण करें, तो पता लगता है कि हम प्रत्येक वस्तु से बचने का प्रयास करते हैं और किसी न किसी वस्तु के सुख-भोग का मार्ग आविष्कृत करते रहते हैं।......(प्रकृति) उस फ्रांसीसी जैसी (?) जिसने अपने एक अंग्रेज मित्र को निमन्त्रित किया था और बताया था कि मेरे तहखाने में पुरानी शराब रखी हुई है। उसने पुरानी शराब की एक बोतल मँगायी। इतनी बढ़िया शराब थी और बोतल के भीतर सोने जैसी दमक रही थी। नौकर ने गिलास में शराब उड़ेली, तो अंग्रेज चुपचाप पी गया। नौकर ले आया था अण्डी के तेल की बोतल ! हम लोग हर वक्त अण्डी का तेल पी रहे हैं, इससे बच नहीं सकते।...

(प्रायः लोग).....इतने यन्त्रवत् हो गये हैं कि वे ...... सोच भी नहीं पाते। कुत्तों, बिल्लियों और अन्य पशुओं की भाँति वे भी प्रकृति द्वारा चाबुक से हाँके जाते हैं। वे कभी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, कभी कल्पना तक नहीं करते। लेकिन जीवन का उन्हें भी कुछ अनुभव है।....

***

योगात् संजायते ज्ञानं

यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेकभेषजम् ।
केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः ॥

यदा नदीनदा लोके सागरेणैकतां ययुः ।
तद्वदात्माक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत् ॥

अर्थात्

जब योगी को जन्म, जरा, दुःख और समस्त व्याधियों के एकमात्र औषध अद्वतीय ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब वह शिवरूप हो जाता है। जिस प्रकार संसार में नद एवं नदियाँ सागर के साथ एकरूपता को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार आत्मा (जीवात्मा) निष्कल अक्षर (ब्रह्म) के साथ एकत्व प्राप्त करता है।

× × ×

योगात् संजायते ज्ञानं ज्ञानाद् योगः प्रवर्तते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥

यदेव योगिनो यान्ति सांख्यैस्तदधिगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥

अर्थात्

योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग प्रवर्तित (स्थिर) होता है। योग तथा ज्ञान सम्पन्न (पुरुष)–के लिए कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। योगी जिसे प्राप्त करते हैं, सांख्यवेत्ताओं के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। जो सांख्य और योग को एक ही समझता है, वह तत्वज्ञानी होता है।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008

DECEMBER 1997

प्रेषण कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ---------------------------

स मुक्तिपदमर्हति !

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितोयेन स मुक्तिपदमर्हति ॥

अर्थात्

शरीरादि में मोह रखना ही मुमुक्षु की बड़ी भारी मौत है। जिसने मोह को जीत लिया है वही मुक्तिपद का अधिकारी बनता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन्द शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसाई काजी, ताजगंज, आगरा के लिए [illegible] ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र [illegible] से प्रकाशित। फोन : 732326